ॐ

श्रीमद् अमितगति आचार्य रचित

सामायिक पाठ

अपरनाम

(नीरव निर्झर/भावना बत्तीसी)

गुजराती टीकाकार :

रामजी माणेकचन्द दोशी

सोनगढ़

हिन्दी पद्यानुवाद :

पण्डित अभयकुमार शास्त्री

देवलाली

हिन्दी अनुवाद और सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

वि. सं. 2077

वी. सं. 2547

ई. सन 2021

—: प्रकाशन तिथि :—

फाल्गुन शुक्ल 2 (15 मार्च 2021)

श्री सीमन्धर भगवान प्रतिष्ठा सोनगढ़ (वि.सं. 1997)

की वार्षिक तिथि के उपलक्ष्य में

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250 फोन : 02846–244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई–400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :

विवेक कम्प्यूटर, अलीगढ़।

प्रकाशकीय

श्रीमद् अमितगति आचार्य द्वारा रचित एवं समग्र दिगम्बर जैन समाज में ख्यातिप्राप्त सामायिक पाठ, जिसका दूसरा नाम 'नीरव निर्झर' और 'भावना बत्तीसी' भी है, का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

आचार्य अमितगति द्वारा रचित इस सामायिक पाठ में समाहित रहस्यों को अपनी प्रभावी शैली द्वारा श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी, तत्कालीन प्रमुख श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने गुजराती भाषा में स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त इस सामायिक पाठ के छन्दों का हिन्दी मूलानुगामी पद्यानुवाद पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री द्वारा किया गया है। साथ ही परिशिष्ट में आदरणीय बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा कृत पद्यानुवाद भी दिया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्वयार्थ का संशोधन एवं शुद्धिकरण बालब्रह्मचारिणी कल्पनाबहिन सागर / जयपुर द्वारा किया गया है।

गुजराती भाषा में सोनगढ़ ट्रस्ट से इस ग्रन्थ का अनेकों बार गुजराती में प्रकाशन हो चुका है। इसका हिन्दी भाषी समाज भी लाभ प्राप्त करे, इस भावना से इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है, जो आप सभी स्वाध्यायीजनों के लिये सादर समर्पित है।

सभी जीव इस ग्रन्थ में समाहित अध्यात्म के रहस्यों को आत्मसात कर सुख के पन्थ में प्रयाण करें, इसी भावना के साथ...

प्रस्तुत ग्रन्थ www.vitragvani.com पर उपलब्ध है।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

प्रस्तावना

यह सामायिक पाठ भगवान श्री अमितगति आचार्य रचित है, वे विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हो गये हैं। यह सामायिक जैन समाज में बहुत लोकप्रिय है, यह गुजराती में विशेषार्थ के साथ प्रकाशित नहीं हुआ था। इसलिए मुमुक्षु जीव इसका लाभ ले सकें, इस उद्देश्य से प्रकाशित किया जा रहा है।

यह सामायिक पाठ तत्त्वज्ञान से भरपूर है, इसमें निम्न विषय लिये गये हैं।

1. आत्मा का स्वरूप

प्रत्येक आत्मा सदा एक, शाश्वत्, निर्मल ज्ञानस्वभावी है, इसलिए पुण्य, दया, दान, तप या दूसरे शुभभाव विकारी, क्षणिक और आत्मा को नुकसान करनेवाले हैं, ऐसा सिद्ध हुआ। शरीर आत्मा से अत्यन्त भिन्न है, इसलिए आत्मा उसका कुछ नहीं कर सकता तो फिर स्त्री, पुत्र, मित्र इत्यादि प्रत्यक्ष भिन्न पदार्थ आत्मा के होंगे ही कहाँ से? तथा आत्मा भी उनका कुछ भी कैसे कर सकेगा? अपने आत्मा के अतिरिक्त सर्व पदार्थ आत्मा से बाह्य हैं और वे स्वयं अपने-अपने से हैं। वे परपदार्थ आत्मा नहीं हैं, वे तो ज्ञेयमात्र हैं, वे पदार्थ आत्मा को सुख-दुःख का कारण नहीं है अथवा आत्मा को लाभदायक या नुकसानदायक नहीं है। परन्तु उनकी एकत्वबुद्धि आत्मा को दुःख का कारण है, इसलिए वह एकत्वबुद्धि आत्मा को प्रथम मान्यता में से त्याग देनी चाहिए। मान्यता में से एकत्वबुद्धि मिटने पर और आत्मा में अपनी एकत्वबुद्धि होने पर क्रम-क्रम से राग दूर होता ही जाता है। परपदार्थों को आत्मा ला अथवा प्राप्त नहीं कर सकता और वे अपने कारण से संयोगरूप आते हैं तथा अपने कारण से वे चले जाते हैं। आत्मा उस संयोग-वियोग का कर्ता-हर्ता नहीं है, ऐसा प्रथम मान्यता में दृढ़ निर्णय करके, पश्चात् पुरुषार्थ बढ़ाकर आत्मा में लीन होना चाहिए। **(श्लोक 26 से 31)**

2. सामायिक का सच्चा स्वरूप

उपरोक्तानुसार आत्मा का स्वरूप जो जीव यथार्थरूप से समझा हो, वह राग का आंशिक अभाव करके आत्मा में लीन होता है, वह सामायिक है। सम्यग्ज्ञानियों का आत्मा ही सामायिक का स्थान है, क्योंकि उन्होंने इन्द्रियजय करके कषायों का नाश किया होता है। कोई धर्मस्थान, शिक्षा पृथ्वी, पाट अथवा कपड़े का आसन या घास का आसन-ये सब आत्मा से बाह्य पदार्थ होने से सामायिक का स्थान नहीं है। पुण्य से लाभ होता है, परपदार्थ या परजीवों को मैं लाभ या नुकसान कर सकता हूँ अथवा वे मुझे लाभ-नुकसान कर सकते हैं, ऐसी मान्यता मिथ्यात्वरूप बाह्य वासना है; इसलिए वह बाह्य वासना छोड़कर, कोई भी परपदार्थ मेरा नहीं है, मैं कभी उनका हो ही नहीं सकता—ऐसा दृढ़ निश्चय सम्यग्दृष्टि आत्माओं को होता है, वे सर्व बाह्य भावों को त्यागकर सदा आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थिर होते हैं, उसे सामायिक कहा जाता है। अपने में अपने आत्मा को ज्ञान-दर्शनमय, विशुद्ध अवलोकन करना और समभाव की प्राप्ति करना, वह सामायिक है। **(श्लोक 23 से 25)**

3. देवाधिदेव का स्वरूप : उनकी और जिनवाणी की स्तुति

जिज्ञासु आत्मा अपना सच्चा स्वरूप समझकर सम्पूर्ण वीतराग और सर्वज्ञ होने की भावना करते हैं, इसलिए वह स्वरूप जानने के लिये वीतराग देव का स्वरूप जानने की आवश्यकता है। उनकी वाणी, योग्य आत्माओं को धर्म प्राप्त करने के लिये उत्कृष्ट निमित्त है; इसलिए उनका स्वरूप जानकर अपने में वह स्वरूप प्रगट करने के लिये उसका वर्णन श्लोक 2 से 4 तथा 10 से 21 तक किया गया है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा जानता है कि देवाधिदेव, गुरु, शास्त्र / जिनवाणी परपदार्थ है और उनसे मुझे कुछ लाभ नहीं हो सकता, परन्तु जब वह अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण अपने स्वरूप में लीन नहीं हो सकता, तब अशुभभाव टालकर, देवाधिदेव और जिनवाणी की स्तुति के भाव उसे

आते हैं, परन्तु उन भावों को वह धर्म नहीं मानता। वीतरागदेव तथा जिनवाणी की भक्ति में उनका स्वरूप आ जाता है, इसलिए वह यहाँ दिया जा रहा है।

हे जिनेन्द्रदेव! दोषरहित परिपूर्ण, अनन्त शक्तिमय मेरा आत्मा है; वह, जैसे म्यान से तलवार भिन्न है, वैसे शरीर से भिन्न है—ऐसा अनुभव करने की शक्ति मुझे आपके प्रसाद से प्राप्त होओ। अनुकूल-प्रतिकूल गिने जानेवाले संयोग, पदार्थ, क्षेत्र, दूसरे आत्माओं से मेरी एकत्वबुद्धि छूटकर मैं सदा समभावी रहूँ; मोह अन्धकार दूर करनेवाले आपके दोनों चरणकमल मेरे हृदय में सदा दीपकवत् रहो, मुझमें लीन हो जाओ, जुड़ जाओ, स्थिर हो जाओ, बैठ जाओ और बिम्बरूप हो जाओ। **(श्लोक 2 से 4)**

हे जिनेन्द्रदेव! आप अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुखस्वभाव के धारक हो। विकारों से पार, परमात्मा, तीन लोक और सर्व पदार्थों के दृष्टा, योगियों द्वारा विशेष प्रकार से देखनेयोग्य, भवदु:ख जाल और अज्ञान के विध्वंसक, मोक्षमार्ग के प्रकाशक, जन्म-मरण से रहित सम्पूर्ण ज्ञानमय, अविनाशी, सिद्ध, बुद्ध, कर्मबन्ध का नाश करनेवाले, एक तथा अनेक विश्व अर्थात् छहों द्रव्यों को भिन्न-भिन्न रूप से सर्व गुण-पर्यायोंसहित और स्पष्टरूप से देखनेवाले, शिव, शान्त, अनादि-अनन्त, काम, मान, मूर्च्छा, विषाद, निन्दा, भय, शोक और चिन्ता का क्षय करनेवाले आप्त देव हो। ऐसे आप्त देव का मुझे शरण हो। आप मुझमें विराजमान होओ। सर्व मुनीन्द्र, मनुष्य, देव, चक्रवर्ती आपका स्तवन करते हैं। द्वादशांगरूप वेद-पुराण-शास्त्र आपकी महिमा करते हैं, ऐसे हे देवाधिदेव! आप मेरे हृदय में विराजमान होओ।

हे जिनवाणी देवी! तू चिन्तामणि समान आत्मवस्तु की दाता, रत्नत्रयरूप बोधि, आत्मलीनतारूप समाधि, परिणामों की शुद्धता, आत्मस्वरूप की पूर्ण प्राप्ति और मोक्षसुख की प्रदाता है। तुम मुझे केवलज्ञान की प्राप्ति कराओ। **(श्लोक 10 से 21)**

यहाँ इतना विशेष समझना कि देवाधिदेव के जो गुण ऊपर कहे हैं

तथा जिनवाणी देवी से जो गुणों की प्रार्थना की है, वे अपने आत्मा के ही गुण हैं, इसलिए वास्तविक रीति से तो यह स्तुति अपने आत्मा की ही स्तुति है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव जानते हैं।

4. सम्यग्दृष्टि आत्माओं की भावना; आलोचना, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ

सम्यग्दृष्टि आत्मा जब आत्मस्वरूप में लीन नहीं रह सकते, तब वे वीतरागदेव और वीतराग वाणी की स्तुति उपरान्त निम्नानुसार इन भावों में भी जुड़ते हैं।

1. प्राणियों के सम्बन्ध में निर्बैर बुद्धि, गुणियों के सम्बन्ध में प्रमोद, दुःखी जीवों के सम्बन्ध में करुणाभाव और विपरीत वृत्तिवाले जीवों के सम्बन्ध में माध्यस्थभाव मेरे आत्मा में हो, ऐसी हे जिनेन्द्रदेव! मेरी प्रार्थना है। **(श्लोक 1)**

2. प्रमाद से कोई जीव घात हुए हों, उनके शरीर भिन्न हुए हों, एक-दूसरे को इकट्ठा कराया हो, पीड़ा को प्राप्त हुए हों, वह मेरा दूष्कृत्य है। हे जिनेन्द्रदेव! वह मिथ्या होओ। पर को कोई मार-जिला नहीं सकता तथा सुखी-दुःखी नहीं कर सकता, ऐसा सम्यग्दृष्टि जानते हैं, इसलिए पर में होनेवाली क्रियाएँ, वह दुष्कृत्य नहीं परन्तु अपना प्रमादभाव दुष्कृत्य है, वह मिथ्या होओ। ऐसी यहाँ प्रार्थना है। **(श्लोक 5)**

3. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में किसी भी प्रकार के दोष हुए हों तो, हे जिनेन्द्रदेव! मेरा दुष्कृत्य मिथ्या होओ, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

(श्लोक 6)

4. जो कोई पाप किये हों, उनकी आलोचना, निन्दा-गर्हा द्वारा नाश करने की भावना करता हूँ। **(श्लोक 7)**

5. प्रमाद द्वारा सम्यक्चारित्र की क्रिया में कोई अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार हुए हों, उनकी शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण की भावना करता हूँ। **(श्लोक 8-9)**

इस प्रकार इस सामायिक पाठ में आये हुए भाव भलीभाँति समझने की आवश्यकता है। जिन जीवों को सम्यग्दर्शन प्रगट न हुआ हो, उन जीवों को कोई भी व्रत या सामायिक व्रत सच्चा नहीं हो सकता। भगवान ने उन व्रतों को बालव्रत अर्थात् मूर्खता से भरपूर व्रत कहा है, इसलिए प्रथम आत्मा का और सामायिक का सच्चा स्वरूप समझने की आवश्यकता है।

यह सामायिक पाठ सभी जीवों को स्वाध्याय करनेयोग्य है, इसलिए जिज्ञासु जीवों को इसका स्वाध्याय करना चाहिए तथा सम्यग्दृष्टि जीवों को सामायिक के समय यह पाठ बोलकर इसके भाव आत्मा में अधिक-अधिक दृढ़ करना और स्वरूप में लीन होना चाहिए।

इस प्रकार सभी जिज्ञासु जीवों को यह सामायिक पाठ उपयोगी है, इसलिए इसका यथार्थरूप से अभ्यास करके, इसके भाव समझने की प्रार्थना है। बत्तीसवें श्लोक में आचार्यदेव ने अपने आत्मा को अपने ज्ञान में स्थिर होने का फल मुक्ति है, ऐसा बतलाया है। इसलिए अन्तिम श्लोक में कहे अनुसार इन 32 श्लोकों द्वारा एकाग्रतापूर्वक अपने आत्मा का अनुभव करके अविनाशी मोक्षपद प्राप्त करने का फल सर्व जिज्ञासुओं को प्राप्त होओ, ऐसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
वैशाख शुक्ल 2
वीर संवत् 2478

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ़

भूमिका

सामायिक की व्याख्या—

समं एकत्वेन आत्मनि आय: आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य, अहं ज्ञाता दृष्टा च इति आत्मविषयौपयोग: आत्मन: एकस्यैव ज्ञेयज्ञायकत्व-संभवात्। अथवा सम् समे रागद्वेषाभ्याम् अनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आय: उपयोगस्य प्रवृत्ति: समाय: स प्रयोजनं अस्य इति सामायिकं।

गोम्मटसार-जीवकाण्ड - 368

भावार्थ - (सम्यग्दर्शन होने के पश्चात्) स्वयं ज्ञायक और स्वयं ज्ञेयरूप होकर, अपने आत्मा के अतिरिक्त सर्व परद्रव्यों से अपना उपयोग हटाकर अपने ज्ञातादृष्टारूप आत्मस्वरूप में ही एकरूप होकर आत्मा को अपने उपयोग का विषय बनाना, अथवा राग-द्वेष को हटाकर समभाव प्राप्त करके माध्यस्थ भावरूप आत्मा में लीन होकर उपयोग की प्रवृत्ति में समा जाना, ऐसा जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।

सम्यग्दृष्टियों को ही सच्ची सामायिक होती है, ऐसा समझना।

सामायिक के दो प्रकार हैं : निश्चय सामायिक और व्यवहार सामायिक।

निश्चय सामायिक—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूत ज्ञानभवनमात्रमैकाग्र लक्षणं समयसारभूतं सामायिकम्।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान का भवन (परिणमन) मात्र अर्थात् कि एकाग्रता लक्षणरूप (शुद्ध आत्मस्वरूप) आत्मा की शुद्ध पर्याय, वह निश्चय सामायिक है।

समयसार, गाथा 154 पर संस्कृत टीका-अमृतचन्द्राचार्य।

व्यवहार सामायिक—

सम्यग्दृष्टि आत्मा जब अपने शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह सकते, तब उनका पुरुषार्थ यद्यपि राग-द्वेष तोड़ने की ओर झुकता है, तो भी उसमें

अशुभभाव टलता है और शुभभाव रह जाता है; वैसा पुरुषार्थ दो घड़ी या अधिक समय तक चालू रखने का प्रयास करना, वह व्यवहार सामायिक यह सम्यग्दृष्टि का व्रत है अर्थात् सामायिक व्रत सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही पाँचवें गुणस्थान में श्रावक को होता है। इससे नीचे की भूमिकावाले को श्रावक व्रत नहीं होता। जो आत्मा का स्वरूप न जानते हों, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों को सामायिक के स्वरूप की समझ नहीं होती, इसलिए उनमें नाम सामायिक के समय यदि मन्द कषाय होवे तो उस शुभराग की क्रिया को व्यवहाराभास सामायिक कहा जाता है।

श्री योगीन्द्रदेव कृत सावद्यधम्म दोहा में कहा है कि—

दंसणभूमिहिं बाहिरउ जिय! वयरुक्ख ण हुंति॥57॥

अर्थात् हे जीव! सम्यग्दर्शनरूपी भूमि के बिना व्रतरूप वृक्ष नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि जीव न हो, वैसे पात्र जीवों के लिये क्या?

जिज्ञासु–पात्र जीवों को सामायिक का स्वरूप समझने की आवश्यकता है, इसके लिये उन्हें इस पुस्तक में दिये गये सामायिक पाठ को भलीभाँति समझकर, उसका अर्थ और भाव ध्यानपूर्वक समझना चाहिए। भाव समझे बिना और भाव का भासन हुए बिना संसार टल नहीं सकता तथा वास्तविक लाभ प्राप्त नहीं होता अर्थात् सुख नहीं होता; इसलिए यह पाठ अभ्यासरूप से बराबर समझना चाहिए।

सामायिक व्रत के लिये योग्यता

जिस जीव ने सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् आंशिक वीतरागता बढ़ाकर व्रत धारण किये हों, वह जीव सामायिक व्रत करने के लिये योग्य है, ऐसे जीवों को पंचम गुणस्थान होता है।

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के सामायिक की बाह्य विधि

पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख रखकर, नौ बार या तीन बार णमोकार मन्त्र बोलकर पंच परमेष्ठी को सविनय नमस्कार करना। पश्चात् बारह

आवर्त (दोनों हाथ की अंजुलि जोड़कर, दायीं ओर से बायीं ओर तक हाथ की प्रदक्षिणा करना।), चार शिरोन्नति (दोनों हाथ की जोड़ी हुई अंजुलि पर मस्तक झुकाकर रखना।) करना, इसी प्रकार समस्त दिशाओं में करना, यह करने का हेतु सभी दिशाओं में आये हुए सिद्धक्षेत्रों, अतिशय क्षेत्रों, अकृत्रिम-कृत्रिम जिनमन्दिरों और मुनिराजों को नमस्कार करने का है।

इस प्रकार विधि करने के पश्चात् योग्य आसन पर बैठकर या खड़े रहकर शान्तचित्त से इस संस्कृत काव्यमय सामायिक पाठ के शब्दार्थ तथा विशेषार्थ के भावों को विचारना। ध्यान में रखनेयोग्य बात तो यह है कि सामायिक आत्मा की क्रिया है, शरीर की कोई क्रिया सामायिक नहीं है; क्योंकि शरीर की कोई क्रिया जीव नहीं कर सकता, इसलिए आत्मभाव बराबर समझना क्योंकि भाव अनुसार ही फल प्राप्त होता है।

शेष काल निर्गमन-विधि

सामायिक पाठ का भावपूर्वक स्वाध्याय पूरा होने के पश्चात् जो समय रहे, उसमें अपने आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के स्वरूप का मनन करना।

इस क्रिया में होनेवाला शुभभाव, वह धर्म नहीं परन्तु जितने अंश में अपनी सम्यक्श्रद्धा दृढ़ होकर अशुभभाव टल जाता है, उतने अंश में वीतरागता बढ़ती है और वही धर्म है, ऐसा ज्ञान करना। शरीर से आत्मा भिन्न है, यह विवेक बराबर ख्याल में रखना।

सामायिक-काल पूर्णता की विधि

सामायिक का काल पूर्ण होने पर खड़े होकर नौ बार णमोकार मन्त्र बोलकर उसका अर्थ और भाव समझकर पंच परमेष्ठी को सविनय नमस्कार करना और सामायिक पूर्ण करना।

जयधवला टीकायुक्त कषायपाहुड़ कथित सामायिक का स्वरूप

द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक के भेद से सामायिक चार प्रकार की है। उनमें :—

सचित्त और अचित्त द्रव्यों में राग और द्वेष का निरोध करना, वह **द्रव्य सामायिक** है;

नगर, ग्राम, जनपद आदि में राग और द्वेष का निरोध करना, वह **क्षेत्र सामायिक** है;

बसन्त आदि छह ऋतु विषयक कषाय का निरोध करना, वह **काल सामायिक** है;

जिसने समस्त कषायों का निरोध कर दिया है तथा मिथ्यात्व का वमन कर दिया है और जो नयों में निपुण हैं, ऐसे पुरुष को जो छह द्रव्य सम्बन्धी बाधारहित और अस्खलित ज्ञान होता है, वह **भाव सामायिक** है।

विशेषार्थ—

सामायिक में राग और द्वेष का त्याग करने की मुख्यता है। कभी सचित्त आदि द्रव्यों के निमित्त से; कभी नगरादि क्षेत्र के निमित्त से; और कभी बसन्त ऋतु आदि काल के निमित्त से राग और द्वेष पैदा होते हैं। जिससे इस जीव की परिणति कभी रागरूप और कभी द्वेषरूप रहा करती है और वह आत्मा को संसार में रोक रखती है, इसलिए उस राग-द्वेष के त्याग के लिये सामायिक की जाती है। अन्तर में क्रोधादि द्रव्य कषायों के उदय में जुड़ने से और बहिरंग में सचित्त द्रव्यादि के निमित्त से जो राग-द्वेष की परिणति होती है, उसका त्याग करके आत्मधर्म, समता आदि के साथ समरस भाव को प्राप्त होना, वही सामायिक है।

दर्शन सामायिक—

मिथ्यादर्शन टालकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना और उस सम्यग्दर्शन को अधिक से अधिक दृढ़ करना तथा निर्मल करना, वह दर्शन सामायिक है। यह दर्शन सामायिक चौथे गुणस्थान से शुरु होती है। दर्शन सामायिक से पहले सामायिक व्रत या चारित्र नहीं हो सकता। आत्मा का स्वरूप न समझते हों, उन्हें दर्शन सामायिक नहीं होती तो फिर उन्हें सामायिक व्रत तो होगा ही कहाँ से। ●

सामायिक पाठ

अपरनाम

नीरव निर्झर / भावना बत्तीसी

मङ्गलाचरण

णमोकार मन्त्र

णमो अरहंताणं,
णमो सिद्धाणं,
णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्वसाहूणं।

अर्थ : अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो (और) लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो।*

---

* इन पंच परमेष्ठियों का विशेष स्वरूप जानने के लिए नियमसार गाथा ७२ से ७६ तथा मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के पृष्ठ २ से ४ तक अवश्य देखना चाहिए।

(१)

सामायिक करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव की भावना का स्वरूप

सर्व जीवों के प्रति सद्भावना

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव!॥१॥

हे प्रभु! मैत्री प्राणिमात्र से हो प्रमोद लख गुणिजन में।
दुखियों के प्रति करुणा एवं समता हो विरुद्ध मत में॥१॥

अन्वयार्थ : [**देव!**] हे जिनेन्द्रदेव ![**मम**] मेरा [**आत्मा**] आत्मा [**सत्त्वेषु**] प्राणियों के प्रति [**मैत्रीं**] निर्बैर बुद्धि, [**गुणिषु**] गुणी जीवों के प्रति [**प्रमोदं**] प्रमोदभाव, [**क्लिष्टेषु जीवेषु**] दुःखी जीवों के प्रति [**कृपापरत्वम्**] करुणाभाव (और) [**विपरीतवृत्तौ**] विपरीत वृत्तिवाले जीवों के प्रति [**माध्यस्थ्यभावं**] माध्यस्थ्यभाव [**सदा**] सदा [**विदधातु**] धारण करो।

विशेषार्थ – सामायिक व्रत पाँचवें गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि जीवों का एक व्रत है। वह शुभभाव है। जिन्हें अपने आत्मस्वरूप का भान न हो, उन्हें सच्चा सामायिक व्रत होता ही नहीं।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मस्वरूप में स्थिरता धारण नहीं कर सकते, तब वे इस श्लोक में कथित चार प्रकार की शुभभावनाएँ भाते हैं। वे समझते हैं कि इस भावना में जो शुभराग है वह धर्म नहीं है परन्तु दोष है और वह बन्ध का कारण है, परन्तु **उसी समय सम्यग्दर्शन-ज्ञान की जो दृढ़ता होती है, अशुभराग नहीं होता और शुभराग के स्वामित्व का निषेध वर्तता है, वह धर्म है।**

मैत्री का अर्थ निर्बैर बुद्धि है। यह भावना अपने हित के लिए है क्योंकि इसके द्वारा अपनी तीव्र कषाय टलती है। किसी के भी प्रति बैरभाव रखना, वह अपना ही अहित है। एक जीव, परजीव का हित या अहित कर ही नहीं सकता, यह लक्ष्य में रखना और इसीलिए एक जीव, दूसरे जीव का मित्र नहीं हो सकता, परन्तु निर्बैर बुद्धि रख सकता है; इसलिए मैत्री का अर्थ निर्बैर बुद्धि समझना चाहिए।

गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धारण करनेवाले सच्चे गुणीजन हैं। जिन्हें सम्यग्दर्शन न हो, वे सच्चे गुणी नहीं हैं; आत्मज्ञानी पुरुष ही वास्तविक गुणी हैं। बाह्य त्याग होने पर भी आत्मज्ञानरूप अन्तर्भेद न होवे तो वे जीव गुणी नहीं हैं। **धर्म में व्यक्ति पूजा को स्थान नहीं है किन्तु गुण पूजा को ही स्थान है,** ऐसा यह भावना सूचित करती है। गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव, वह वास्तव में अपने गुण बढ़ाने के लिए भाव है। जिन आत्माओं को सम्यग्दर्शन की रुचि हो, उन्हें गुणीजनों के प्रति वास्तविक प्रमोदभावना होती है। 'प्रमोद' सम्यक् गुणों का बहुमान सूचित करता है।

दु:खी जीवों के प्रति करुणा—दु:ख का मूल कारण मिथ्यात्व अर्थात् अपने स्वरूप की भ्रमणा है। जब तक उस मिथ्यात्व का राग नहीं मिटता, तब तक जीव का दु:ख कभी नहीं मिटता। **सुख का मूल सम्यग्दर्शन है।** जिन जीवों को सम्यग्दर्शन होता है, उन्हें दु:खी अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रति यथार्थ करुणा होती है। यह करुणाभाव जीव अपने हित के लिए करता है। एक जीव किसी भी परजीव की करुणा नहीं कर सकता, परन्तु अपने भाव सुधार सकता है और इसलिए ही अरिहन्त प्रभु तथा सिद्ध भगवान को 'करुणा सागर' कहा जाता है। अपनी करुणा करते हुए दूसरे जीवों को दु:ख देने का भाव नहीं होता, वह दु:खी जीवों सम्बन्धी करुणा है।

विपरीत वृत्तिवाले जीवों के प्रति माध्यस्थता—जिन जीवों को सम्यग्दर्शन के प्रति अत्यन्त अरुचि है, मिथ्यादर्शन का दृढ़रूप से सेवन करते हैं और सम्यग्दर्शनरूप आत्मकल्याण का बोध सुनकर चिढ़ते हैं, वे जीव विपरीत वृत्तिवाले हैं; ऐसे जीव तीव्र राग-द्वेषवाले होते हैं। उन जीवों को देखकर द्वेषभाव न आवे, किन्तु स्वयं को मध्यस्थभाव रहे, ऐसी यहाँ सम्यग्दृष्टि भावना करता है।

सदा—यह शब्द ऐसा सूचित करता है कि गाथा में कहे हुए भावों से विरुद्ध भाव (अशुभभाव) मुझे कभी न हों। यह भाव शुभराग है और शुभराग, वह विकारीभाव होने से हमेशा ऐसे के ऐसे नहीं टिक सकते; इसलिए वे मिटकर मुझे शुद्धभाव प्रगट हो, ऐसी यहाँ ज्ञानी की भावना है। मिथ्यादृष्टि जीव को शुभभाव टलकर अशुभभाव नियम से होते हैं क्योंकि शुभभाव, वह विकार है और वह बदले बिना नहीं रहता, इसलिए मिथ्यादृष्टि को हुए शुभभाव अल्प काल में टलकर अशुभभाव हुए बिना नहीं रहते हैं।

यह जीव पर का कुछ नहीं कर सकता; जीव को स्वयं अपने भाव कैसे करना, वह इसमें कहा है। श्री मोक्षशास्त्र / तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में शुभास्रव का वर्णन करते हुए ग्यारहवें सूत्र में **'मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु'** -सत्त्व, गुणाधिक, क्लिष्यमान—दुःखी और अविनयी (उद्धत प्रकृति धारक मिथ्यादृष्टि)-इन जीवों के प्रति अनुक्रम से मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना भाना—ऐसा कहा है, वह निरन्तर चिन्तवन करने योग्य है, ऐसा भी कहा गया है।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता, तब उसका लक्ष्य परसन्मुख जाता है और ऐसा होने पर अपने में अशुभभाव न होने देने के लिए कैसे भावों की भावना करता है, वे इस श्लोक

में कहे हैं। इन भावों में परजीव तो निमित्तमात्र हैं। परजीवों का कुछ करने को कहा है, ऐसा इस श्लोक का अर्थ करना न्याय विरुद्ध है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। ज्ञानी जीव सरागदशा में अपना लक्ष्य परसन्मुख जाने पर कैसी भावना करता है, वही इस श्लोक में बतलाया है। ●●

थोड़ा सहन करना सीख

भाई! यह तेरे नरकादि दुःखों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है, वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती; असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दुःख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशमरस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये? कोई पानी क्यों नहीं देता?' परन्तु भाई! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया क्या?

— पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११

(२)

सम्यग्दृष्टि जीव स्वसन्मुख झुकता है, तब उसका चिन्तवन कैसा होता है?

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं, विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र! कोषादिव खड्गयष्टिं, तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥

बल अनन्तमय दोष रहित आतम को तन से भिन्न लखूँ।
यथा म्यान में खड्ग भिन्न, वह शक्ति आपसे प्राप्त करूँ ॥२॥

अन्वयार्थ : [**जिनेन्द्र!**] हे जिनेन्द्रदेव! [**अनन्तशक्तिं**] अनन्त शक्तियुक्त [**अपास्तदोषम्**] दोषरहित–परिपूर्ण [**आत्मानम्**] आत्मा को [**कोषादिव खड्गयष्टिं**] म्यान से भिन्न तलवार की भाँति [**शरीरतः**] शरीर से [**विभिन्नं**] अत्यन्त भिन्न [**कर्तुं**] करने की / अनुभवने की [**शक्तिः**] शक्ति–ताकत [**तव**] आपकी [**प्रसादेन**] कृपा द्वारा [**मम**] मुझे [**अस्तु**] हो / प्राप्त हो।

विशेषार्थ – आत्मा चैतन्यस्वरूप है और शरीर जड़ है। यद्यपि वे एक क्षेत्र में रहे हैं, तथापि भिन्न हैं। यदि वे वास्तव में भिन्न न हों तो कभी भी भिन्न नहीं हो सकते। जैसे तलवार, म्यान से भिन्न ही है, इसीलिए उसे म्यान से भिन्न किया जा सकता है; इसी प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न होने से आत्मा के ज्ञानबल द्वारा दोनों का स्वरूप जानकर जीव को शरीर से भिन्न किया जा सकता है। यहाँ वह ज्ञानबल प्रगट करने की भावना है।

शरीर अनन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है, जो अचेतन है। आत्मा उसका कुछ नहीं कर सकता। जीव और शरीर अत्यन्त भिन्न

पदार्थ हैं। ऐसा जो न समझे, उसे धर्म की शुरुआत नहीं हो सकती। द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से भिन्न पदार्थ एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। मैं शरीर का कुछ कर सकता हूँ अथवा शरीर की क्रिया करने से सामायिक इत्यादि होते हैं – ऐसा जो मानता है, उसने जीव और शरीर को भिन्न माना ही नहीं है; इसीलिए उस जीव को धर्म या सामायिक नहीं हो सकते और उसे जीव तथा शरीर की विभिन्नता कभी नहीं होती। शरीर का प्रत्येक रजकण स्वतन्त्र द्रव्य है, और जीव भी स्वतन्त्र द्रव्य है, इसलिए जीव शरीर का कुछ नहीं कर सकता। रजकण जीव का कुछ नहीं कर सकते और एक रजकण दूसरे रजकण का कुछ नहीं कर सकता। कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य को लाभ-हानि नहीं कर सकता।

विग्रहगतिवाले जीवों के अतिरिक्त प्रत्येक संसारी जीव को मुख्यरूप से तीन शरीर होते हैं। मनुष्यों को कार्मण, तैजस और औदारिक – ये तीन शरीर होते हैं। किसी लब्धिधारी मुनि को चौथा आहारकशरीर होता है। इन शरीरों में से कोई भी शरीर, जीव को कुछ भी लाभ अथवा नुकसान करता ही नहीं, क्योंकि वह जीव से भिन्न ही द्रव्य है – ऐसा सच्चा ज्ञान प्रथम से ही करने की आवश्यकता है। ऐसा ज्ञान किये बिना जीव का पुरुषार्थ कभी स्वसन्मुख झुकता ही नहीं और परसंयोग की ओर ही झुकाव रहा करता है; इसलिए उसे आत्मभावना जागृत नहीं होती है। इसलिए शरीर इत्यादि परपदार्थों की ओर से लक्ष्य हटाकर शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा की ओर झुकाव करने के अभ्यासरूप यह भावना है।

इस श्लोक में कथित 'आपके प्रसाद से' ये शब्द ऐसा सूचित करते हैं कि जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, उसमें वीतरागी-उपदेश निमित्त होता है; अज्ञानी का उपदेश उसमें निमित्त कभी हो ही नहीं

सकता। वीतरागी पुरुष और वीतरागी उपदेश आत्मा का स्वरूप समझने में कोई सहायता या कृपा करता है, ऐसा मानना अयथार्थ है। वीतरागी पुरुष और उनका उपदेश दोनों परद्रव्य हैं, इसलिए वे आत्मा को लाभ नहीं कर सकते परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में वीतरागी उपदेश ही निमित्त हो सकता है, ऐसा ज्ञान कराने के लिए और सम्यग्दृष्टि को राग हो, तब तक वीतराग प्रभु का बहुमान वर्तता है, इतना बतलाने के लिए इस श्लोक में **तव प्रसादेन**—आपके प्रसाद से / कृपा से—यह पद प्रयोग किया है। ●●

धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है ? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन–विहार करने के लिये पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ – ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से, आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है – यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग–द्वेष का अभाव करता जाता है। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

(३)

सम्यग्दृष्टि जीव की बाह्य के संयोग-वियोग के प्रति भावना

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे ग्ववने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥३ ॥

सुख-दुख शत्रु-मित्र घर-वन हो अथवा हो संयोग-वियोग।
किञ्चित् भी ममता नहिं इनमें हो सदैव प्रभु समता योग ॥३ ॥

अन्वयार्थ : [नाथ!] हे नाथ! **[दुःखे-सुखे]** दुःख में / असुविधा में (अथवा) सुख में **[वैरिणि-बन्धुवर्गे]** बैरी के प्रति या बन्धुवर्ग की ओर **[योगे-वियोगे]** संयोग में या वियोग में (और) **[भवने वा वने]** घर में या जंगल में **[निराकृत-अशेष-ममत्वबुद्धेः]** सम्पूर्ण ममत्वबुद्धि दूर करके **[मे]** मेरा **[मनः]** मन **[सदा अपि]** सदा **[समं]** समभावी **[अस्तु]** हो / रहो।

विशेषार्थ - लोग बाह्य सुविधा को सुख और असुविधा को दुःख मानते हैं। आत्मज्ञानी ऐसा मानता है कि शरीर इत्यादि दूसरे कोई परपदार्थ जीव को अनुकूल-प्रतिकूल या सुख-दुःख देते नहीं हैं; मात्र कल्पना करके उनमें अनुकूल-प्रतिकूलता का आरोप अज्ञानी जीव करता है।

ज्ञानी तो अपने शुद्धभाव को सुख-सुविधारूप मानता है और शुभ-अशुभभावों को दुःख-असुविधारूप मानता है। कोई भी परजीव इस आत्मा को शत्रु या मित्र है ही नहीं; मात्र अपना शुद्धभाव वह मित्र और अशुद्ध—शुभाशुभभाव, वह शत्रु है। जड़ चेतन का संयोग या वियोग, वह तो ज्ञेयमात्र है। वास्तविक रूप से तो कोई जड़-चेतन का

संयोग–वियोग होता नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने–अपने (स्वक्षेत्र में ही रहता है), वे द्रव्य स्वयं अपने कारण से आकाशक्षेत्र बदलते हैं और इस प्रकार परद्रव्य का क्षेत्र बदलने से इस जीव को कुछ लाभ–नुकसान नहीं होता। स्वयं अपने स्वभाव में जुड़कर रहे अर्थात् शुद्धभाव (एकाकाररूप) प्रगट करे और अपने में से अशुद्धभावों का वियोग करे, वही जीव को लाभ का कारण है; यहाँ यही भावना है। घर हो या जंगल हो, वे दोनों परवस्तु है; वे दोनों जीव को लाभ–नुकसान नहीं करते – ऐसा ज्ञानी जानता है।

वस्तुस्वरूप की सच्ची मान्यता होने के पश्चात् सम्यग्दृष्टि जीव उपरोक्त भावना करता है। साधकदशा में उसका राग क्रम–क्रम से टलता है। जब तक राग रहता है, तब तक परसन्मुख लक्ष्य जाता है; इसलिए उस राग को तोड़कर, लक्ष्य को स्वसन्मुख झुकाकर निर्विकल्प रागरहित दशा प्रगट करने की यह भावना है। इसमें सदा के लिए वीतरागता की भावना की है।

इस श्लोक में '**अशेष**' शब्द प्रयोग किया है, वह ऐसा सूचित करता है कि अभिप्राय में से तो परद्रव्य सम्बन्धी सम्पूर्ण ममत्वबुद्धि मिट गयी है परन्तु चारित्र में किंचित् अंश में ममत्व रहा है, वह मिट जाओ – ऐसी भावना यहाँ की गयी है।

इस श्लोक में **सदापि** – सदा शब्द प्रयोग किया है, उसका अर्थ पहले श्लोक की टीका में बतलाया है, तदनुसार यहाँ समझ लेना चाहिए। ●●

(४)

मेरा लक्ष्य सदा ज्ञान की ओर ही रहे, ऐसी भावना

मुनीश! लीनाविव कीलिताविव, स्थिरौ निषाताविव बिम्बिताविव।
पदौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा, तमो धुनानौ हृदि दीपकाविव॥४॥

हे मुनीश! तव पद-युग मम उर में कीलित वत् लीन रहें।
बिम्ब समान विराजें एवं दीपकवत् मम मोह नशें॥४॥

अन्वयार्थ : [**मुनीश!**] हे मुनियों के स्वामी-जिनेश! [**त्वदीयौ पादौ**] आपके दोनों चरण कमल [**मम**] मेरे [**हृदि**] हृदय में [**सदा**] हमेशा (इसी प्रकार) [**तिष्ठतां**] रहो कि [**लीनौ इव**] मानो लीन हुए हों [**कीलितौ इव**] कील की भाँति मानो जड़ गये हों [**स्थिरौ इव**] मानों स्थिर हो गये हों [**निषातौ इव**] मानो बैठा दिये गये हों [**बिम्बितौ इव**] मानों बिम्ब समान बन गये हों [**तमो धुनानौ**] मानो मोह अन्धकार को दूर करने में योग्य [**दीपकौ इव**] दीपक समान बन गये हों।

विशेषार्थ - इस श्लोक में अपने शुद्धस्वरूप में एकाकाररूप से लीन होने की भावना है। यहाँ जिनेन्द्रदेव के उद्देश कर निमित्त से कथन किया है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि को जब स्वरूप में स्थिरता न हो, तब राग होता है और उस राग के कारण उसका लक्ष्य भगवान आदि के प्रति जाता है और उस समय विनयपूर्वक अपने स्वरूप की ओर उन्मुखता की भावना करता है। भगवान तो परद्रव्य है, इसलिए उनके चरण-कमल कहीं दूसरे जीव में प्रवेश करे, स्थिर हो या एकरूप हो अथवा दीपक समान बन जाए - ऐसा कभी नहीं होता, परन्तु सम्यग्दृष्टि

जीव, निजस्वरूप में लीन होने, स्थिर होने, समा जाने और बिम्बरूप होना चाहते हैं, इसलिए भगवान के प्रति बहुमान के कारण उपचार से कथन किया है।

यहाँ सदा लीन होने की भावना की गयी है, वह ऐसा बतलाती है कि ज्ञानी को शुभभाव रखने की भावना नहीं है परन्तु उसे छेदकर शुद्धभाव में लीन होने की भावना है।

इस श्लोक में तमः मोह अन्धकार शब्द प्रयोग किया है, वह ऐसा सूचित करता है कि मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्ररूप मोह जीतने में भगवान का वीतरागी विज्ञान ही निमित्त हो सकता है; अज्ञानियों का ज्ञान मिथ्या होने से वह धर्म में कभी भी निमित्त नहीं हो सकता।

सर्वज्ञ वीतरागदेव के द्रव्य–गुण–पर्याय का स्वरूप यथार्थरूप से जो न जाने, उसे मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्ररूप मोह कभी नहीं मिटता और जो यथार्थरूप से जानता है, उसका मोह अभाव हुए बिना नहीं रहता, ऐसा यह श्लोक सूचित करता है।

लीन, कीलित, स्थिर, निषात और बिम्बित – शब्द सम्यक्चारित्र की दृढ़ता करने की भावना सूचित करते हैं। ●●

(५)

पूर्व में किये हुए प्रमाद का प्रायश्चित्त

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा॥५॥

यहाँ वहाँ विचरण करते एकेन्द्रिय आदिक प्राणी का।
घात किया या दुख पहुँचाया, प्रभु! वह दुष्कृत हो मिथ्या॥५॥

अन्वयार्थ : [**देव!**] हे जिनेन्द्र प्रभु! [**प्रमादतः**] प्रमादपूर्वक [**इतः**] यहाँ [**ततः**] वहाँ [**संचरता**] चलते-फिरते हुए [**एकेन्द्रियाद्याः**] एकेन्द्रिय आदि [**देहिनः**] प्राणी [**यदि**] यदि [**क्षताः**] घात हुए हों [**विभिन्नाः**] शरीर से भिन्न किये गये हों [**मिलिताः**] एक-दूसरे में एकत्रित कराये हों या [**निपीडिताः**] पीड़ित किये हों [**तदा**] तो [**तत्**] वह [**दुःअनुष्ठितं**] दुष्कृत्य [**मिथ्या**] मिथ्या [**अस्तु**] हो / होओ।

विशेषार्थ - इस श्लोक में प्रमादतः-'प्रमाद से' शब्द बहुत उपयोगी है क्योंकि प्रमाद ही भावहिंसा है और भावहिंसा, वही दोष है। परजीव का शरीर छूटे या न छूटे, उसके टुकड़े हों या न हों, वह इस जीव के आधीन नहीं है। इस जीव के आधीन अपने भाव हैं। अपने भाव में प्रमाद हो, वही अपना भावमरण होने से हिंसा है और वह दुष्कृत्य होने से वह मिथ्या होओ, ऐसी भावना की है।

परजीव का जीवन या मरण उसके आयुष्य के आधीन है और उसके आयुष्य प्रमाण ही जीव का जीवन-मरण होता है; इसलिए परजीव के जीवन या मरण, सुख या दु:ख इत्यादि इस जीव को बन्ध

के कारण नहीं हैं, परन्तु अपने विकार भाव ही बन्ध का कारण है।

श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित भावहिंसा का स्वरूप ही वास्तविक हिंसा है। लोग जिसे हिंसा कहते हैं, वह हिंसा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। जीव अपने भाव में प्रमाद सेवन करता है, वही हिंसा है। जीव की प्रमाददशा का निमित्त पाकर दूसरे जीवों को दुःख होता है और उनके शरीर का वियोग होता है, वह द्रव्यहिंसा है। बन्ध का कारण भावहिंसा ही है, द्रव्यहिंसा नहीं। भावहिंसा के समय द्रव्यहिंसा होवे तो उसे निमित्त कारण कहा जाता है।

जो जीव आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझता है, वही दुष्कृत्य क्या है, यह समझ सकता है। ●●

धर्मात्मा की दृष्टि

धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभभाव से ऊँचा पुण्य बँधता है परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता को साधने पर है। जो जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। कोई जीव, धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद आता है क्योंकि उसे स्वयं को आराधना का तीव्र प्रेम है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(६)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्बन्धी दोषों का प्रायश्चित्त

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्तिना, मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं, तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥६ ॥

दुर्मति से इन्द्रिय-कषाय वश शिव पथ से विपरीत चला।
मलिन किया चारित्र शुद्धि को प्रभु! वह दुष्कृत हो मिथ्या ॥६ ॥

अन्वयार्थ : [प्रभो!] हे प्रभो! **[विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्तिना]** मोक्षमार्ग से प्रतिकूल वर्तन करनेवाले **[मया]** मेरे द्वारा **[दुर्धिया]** दुर्बुद्धि से **[कषाय-अक्षवशेन]** कषाय और इन्द्रियों के वश होकर **[चारित्रशुद्धेः]** चारित्रशुद्धि का **[यद्]** जो **[अकारि लोपनं]** लोपन किया हो, **[तद्]** वह **[मम]** मेरा **[दुष्कृतं]** दुष्कृत्य **[मिथ्या]** मिथ्या **[अस्तु]** हो / होओ।

विशेषार्थ – जो जीव यथार्थ मोक्षमार्ग समझता है, वही मोक्षमार्ग से प्रतिकूल क्या है, उसे समझ सकता है; इसलिए आत्मार्थियों को शुभराग को मोक्षमार्ग नहीं मानकर निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग समझना चाहिए।

कषाय का अर्थ मिथ्यादर्शन, अज्ञान और राग-द्वेष होता है; इसलिए अज्ञानदशा में जो राग-द्वेष सेवन किया हो वह, तथा सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् जो राग-द्वेष किये हों वह, दुष्कृत्य मिथ्या होओ, ऐसी यहाँ भावना है।

स्वयं आत्मलक्ष्य चूककर इन्द्रियों के वश हुआ था और इससे

राग–द्वेषादि दुष्कृत्य किये थे, उसका यहाँ प्रायश्चित्त है। जड़ इन्द्रियाँ जीव को कहीं गुण–दोष या लाभ–नुकसान नहीं करतीं, परन्तु जीव स्वयं उस ओर झुकाव करता है, वही दुष्कृत्य है। आत्मा का स्वरूप समझे बिना कोई आत्मा सच्चा जितेन्द्रिय नहीं हो सकता क्योंकि अज्ञानी जीव इन्द्रियों से अपने को दु:ख होता है, ऐसा मानता है इसलिए वह त्याग द्वेषपूर्वक ही होता है और उससे दुष्कृत्य का सच्चा त्याग नहीं होता।

शुद्धभाव, वह सुकृत्य है; पुण्य और पाप, वे दोनों भाव दुष्कृत्य हैं।

●●

आत्मा का जीवन

भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है। जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़प्राण कहीं आत्मा के जीवन के कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो वे आत्मा से भिन्न क्यों होवें? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं है; आत्मा का अस्तित्व, अपने चैतन्य भावप्राण से ही है। ऐसे चैतन्य जीव को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसा?

इस प्रकार धर्मीजीव मरण के भय से रहित नि:शङ्क तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत, मरण से भयभीत है परन्तु ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है क्योंकि वह प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है।

— *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

(७)

सर्व पापों की आलोचना-निन्दा-गर्हा

विनिन्दनालोचन गर्हणैरहं, मनोवचःकायकषायनिर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं, भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम्॥७॥

मन-वच-काय कषाय जल्प भव-दुख के कारण पापों को।
निन्दादिक से नष्ट करूँ ज्यों वैद्य नष्ट करता विष को॥७॥

अन्वयार्थ : [**भिषग्**] वैद्य [**मंत्रगुणैः**] मन्त्रगुणों द्वारा [**विषं**] विष (दूर करता है) [**इव**] उसी प्रकार [**अहं**] मैं [**भवदुःख-कारणं**] भव-दुःख के कारणरूप [**मनःवचःकायकषाय-निर्मितं**] मन-वचन और काया के निमित्त से कषाय द्वारा उत्पन्न किये हुए [**अखिलं**] समस्त [**पापं**] पाप को [**विनिन्दन-आलोचन-गर्हणैः**] विशेष निन्दा, आलोचना और गर्हणा द्वारा [**निहन्मि**] नष्ट करता हूँ।

विशेषार्थ : मन, वचन और काया पुद्गल पिण्ड है। वे जीव को कोई लाभ या नुकसान नहीं करते परन्तु जब जीव स्वयं अपने दोष के कारण उस ओर लक्ष्य करता है, तब अपने में विकार होता है। परलक्ष्य बिना विकार नहीं होता; जब विकार करे, तब कहीं पर के ऊपर लक्ष्य होता ही है। विकार के समय जीव ने किस परवस्तु के ऊपर लक्ष्य किया, उसका ज्ञान कराने के लिये मन, वचन और काया द्वारा विकार किया, ऐसा कहा जाता है। यह कथन व्यवहार का है। व्यवहार-कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है। मन-वचन-काय तो निमित्तमात्र हैं; उनके कारण विकार नहीं होता।

कषाय का अर्थ छठवें श्लोक में कहा गया है। मिथ्यात्व, वह

उत्कृष्ट पाप है क्योंकि वह अपरिमित मोह है। चारित्र का दोष (राग-द्वेष) तो परिमित मोह है। अज्ञानी के कषाय में मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है।

इस श्लोक में आये हुए वैद्य का दृष्टान्त विशेष लक्ष्य में रखने योग्य है। सम्यग्दर्शन ही विकार—राग को मिटाने के लिये प्रथम मन्त्र (गुण) है और सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक का चारित्र, वह विकार का सर्वथा नाश करने का दूसरा मन्त्र है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय जीव के विकार मिटाने में समर्थ नहीं है।

निन्दा—आत्मसाक्षी से अपने दोषों को प्रगट करना;

आलोचना—अपने लगे हुए दोषों को देख जाना;

गर्हणा—पंच परमेष्ठी या गुरु की साक्षी से अपने दोषों को प्रगट करना।

भवदु:ख का कारणरूप महापाप, वह मिथ्यादर्शन है। उसे टालकर चारित्र में स्थिरता करके रागरूप मोह टालने की यहाँ भावना है, क्योंकि राग के क्षय बिना सर्वज्ञता और वीतरागता प्रगट नहीं होती और वह प्रगट हुए बिना भव का आत्यन्तिक नाश नहीं होता।

(८)

अतिक्रम इत्यादि दोषों का प्रतिक्रमण

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं, जिनातिचारं सुचरित्रकर्मणः।
व्यधादनाचारमपि प्रमादतः प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥८ ॥

सम्य चारित में अतिक्रम–व्यतिक्रम अरु अनाचार अतिचार।
दोष लगे दुर्मति–प्रमाद से प्रतिक्रमण तत् शुद्धि–अर्थ ॥८ ॥

अन्वयार्थ : [**जिन**] हे जिनेश्वरदेव ! [**विमतेः प्रमादतः**] विमति से प्रमाद द्वारा [**सुचारित्रकर्मणः**] सम्यक्चारित्र क्रिया के [**व्यधात्**] भंग से [**यत्**] जो [**अतिक्रमं**] अतिक्रम [**व्यतिक्रमं**] व्यतिक्रम [**अतिचारं**] अतिचार [**अनाचारम्**] अनाचार [**अपि**] भी (किये हों) [**तस्य**] उनकी [**शुद्धये**] शुद्धि के लिये [**प्रतिक्रमं**] प्रतिक्रमण [**करोमि**] करता हूँ।

विशेषार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव को ही सच्ची सामायिक होती है; इस श्लोक में बतलाये हुए प्रतिक्रमण की भावना सम्यग्दृष्टि की है। मुमुक्षु जीवों को प्रथम आत्मभान द्वारा मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करना चाहिए। अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। सम्यग्दर्शन ही मिथ्यादर्शनरूप महापाप का प्रतिक्रमण है; तत्पश्चात् सम्यक्चारित्र के दोष टालकर स्वरूप में स्थिर रहना, वह चारित्र के दोषों का प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का अर्थ मिथ्यात्व आदि दोष से विमुख होकर उनका त्याग करके निजस्वरूप प्रगट करना है। ●●

(९)

व्यतिक्रम आदि शब्दों का अर्थ इसके बाद के श्लोक में कहे हैं

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥९॥

मन–शुद्धि–विधि में क्षति अतिक्रम, व्रत उल्लंघन व्यतिक्रम है।
विषय प्रवर्तन अतीचार है अनाचार आसक्ति कहें॥९॥

अन्वयार्थ : [**प्रभो!**] हे प्रभु! [**मनःशुद्धिविधेः**] मन शुद्धि के विधि की [**क्षतिं**] क्षति / विकारभाव वह [**अतिक्रमं**] अतिक्रम [**शीलवृतेः विलंघनम्**] शीलव्रतों के उल्लंघन का भाव वह [**व्यतिक्रमं**] व्यतिक्रम [**विषयेषु वर्तनं**] विषयों में प्रवृत्ति वह [**अतिचारं**] अतिचार (और) [**इह**] इन विषयों में [**अतिसक्ततां**] अति आसक्ति वह [**अनाचारं**] अनाचार है, ऐसा [**वदन्ति**] आचार्यदेव कहते हैं।

विशेषार्थ – इस श्लोक में कहे हुए चारों प्रकार अशुभभाव हैं। प्रथम तीन प्रकार के दोष होने पर भी जीव का इतना पुरुषार्थ टिका रहता है कि सम्यग्दर्शन और व्रत का भंग नहीं हो जाता परन्तु चौथा दोष बड़ा है, वह दोष लगने पर जीव के व्रत में भंग होता है और यदि सत्य श्रद्धा में से जीव च्युत हो जाए तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है और इसीलिए उसके सम्यग्दर्शन और व्रत दोनों नष्ट होते हैं।

●●

(१०)

वचन के निमित्त से जीव ने किये हुए दोषों की क्षमा

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी, सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥१० ॥

यदि प्रमादवश जिन–वचनों को मात्रा अर्थ पदादि विहीन।
कहा गया तो क्षमा करो हे सरस्वती! दो केवलज्ञान ॥१० ॥

अन्वयार्थ : [देवी सरस्वती] सरस्वती / जिनवाणी देवी! **[यदि]** यदि **[प्रमादात्]** प्रमाद से जो **[अर्थमात्रापदवाक्यहीनं]** जिनवचनों के अर्थ, मात्रा, पद, वाक्य से हीन (न्यून) **[किंचन]** कुछ भी **[मया]** मुझसे **[उक्तं]** बोला गया हो तो **[तत्]** वे **[क्षमित्वा]** माफ करके **[मे]** मुझे **[केवलबोधलब्धिं]** केवलज्ञान की प्राप्ति **[विदधातु]** धारण कराओ।

विशेषार्थ – सम्यग्ज्ञान का निमित्त जिनवाणी ही होती है। सम्यग्ज्ञान का प्रथम निमित्त अज्ञानी की वाणी कभी नहीं हो सकती। सम्यग्ज्ञानी अपने शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह सकते, तब वे ज्ञान की विशेष निर्मलता के लिये जिनवाणी का श्रवण, वांचन और मनन करते हैं।

केवलज्ञान को और सम्यक् श्रुतज्ञान को भी सरस्वती देवी कहा गया है। श्रुतज्ञानपूर्वक केवलज्ञान होता है, इसलिए ज्ञानी सराग अवस्था टालकर अपने शुद्धोपयोग में स्थिर होकर केवलज्ञान प्रगट करने की भावना करता है, ऐसा इस श्लोक में दर्शाया है।

जिनवाणी परवस्तु है, वह आत्मा को कुछ लाभ–नुकसान नहीं

कर सकती, परन्तु जीव को जब प्रथम सम्यग्ज्ञान होता है, तब जिनवाणी निमित्तरूप होती है, ऐसा ज्ञान कराने के लिये इस श्लोक में व्यवहार से कथन किया गया है।

जो सम्यग्ज्ञान है, वही सरस्वती की सत्यमूर्ति है, उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान है, कि जिसमें सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होते हैं। वह अनन्त धर्मयुक्त आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है, इसलिए वह सरस्वती की मूर्ति है। तद्नुसार जो श्रुतज्ञान है, वह आत्मतत्त्व को परोक्ष देखता है, इसलिए वह भी सरस्वती की मूर्ति है और वचनरूप द्रव्यश्रुत भी उसकी मूर्ति है क्योंकि वह वचन द्वारा अनेक धर्मयुक्त आत्मा को बताता है।

इस प्रकार सर्व पदार्थों के तत्त्व बतलानेवाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकान्तमयी सरस्वती की मूर्ति है। सरस्वती के नाम वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी, वागीश्वरी, वाग्देवता, शंकरी इत्यादि बहुत हैं।

लौकिक में जो सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है, वह समीचीन नहीं है।

(११)

जिनवाणीरूप सरस्वती के निमित्त से बोध आदि की प्राप्ति

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने, त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥११ ॥

बोधि समाधि परिणति-शुद्धि आत्म प्राप्ति शिव सौख्य निधि।
चिन्तित दाता चिन्तामणि हे वन्दनीय देवी सरस्वति ॥११ ॥

अन्वयार्थ : [**देवि!**] हे सरस्वती / जिनवाणीदेवी ! [**चिन्तित-वस्तुदाने**] चिन्तित वस्तु का दान करने में [**चिन्तामणिं**] चिन्तामणिरूप ऐसी [**त्वां बंधमानस्य**] आपको वन्दन करते हुए ऐसे [**मम**] मुझे [**बोधिः**] रत्नत्रय की प्राप्तिरूप धर्म [**समाधिः**] आत्मलीनतारूप समाधि [**परिणामशुद्धिः**] परिणामों की शुद्धता [**स्वात्म-उपलब्धिः**] निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति (और) [**शिवसौख्यसिद्धिः**] मोक्षसुख की सिद्धि। [**अस्तु**] होओ।

विशेषार्थ - इस श्लोक में जिनवाणी का माहात्म्य वर्णन किया है और निजस्वभाव की भावना की है। जिनवाणी का माहात्म्य व्यवहारनय से है। निश्चयनय से (वास्तव में) आत्मा के सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य है। जीव जब सम्यग्दर्शनादि प्रगट करता है, तब जिनवाणी पर निमित्तरूप का आरोप आता है, इसलिए जिनवाणी निमित्त कहलाती है। मुमुक्षुओं को राग हो, तब जिनवाणी की ओर लक्ष्य जाने पर उसका माहात्म्य आये बिना नहीं रहता परन्तु अपने त्रिकाली शुद्धस्वरूप की ओर लक्ष्य करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और

तत्पश्चात् क्रम-क्रम से राग टलकर जीव विशेष स्वरूप लीनता करता है।

चिन्तवन योग्य वस्तु एक शुद्धात्मा ही है। उसका स्वरूप जिनवाणी द्वारा ही जाना जा सकता है, ऐसा यहाँ बताया है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो अप्राप्त थे, उनकी प्राप्ति, वह बोधि है और उनका निमित्तरूप से भवान्तर में साथ ले जाना, वह समाधि है।

......आश्चर्य है!

भाई! सम्यग्दृष्टि के अन्तःस्तल की थाह लेना बहुत कठिन है। धर्मी जीव को चक्रवर्ती का राज्य हो, युद्ध में खड़े हों, परन्तु आत्मा के आनन्द से राग भिन्न हो गया है, रागादि परिग्रह में भेदबुद्धि हो गयी है, भले ही उसके विषय सामग्री हो, उसका भोग भी करते हों। सम्यग्दृष्टि को पुण्य विशेष होता है, पुण्य के ढेर होते हैं, स्त्री-पुत्रादि में, शरीर-वैभव में पुण्य के ढेर दिखायी देते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि को उनमें एकत्वबुद्धि छूट गयी है; चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द उसे दृष्टिगोचर होता है। आनन्द का सागर उछल रहा है, आनन्द का ज्वार आता है - ऐसे सम्यग्दृष्टि को भोग-सामग्री में किंचित् आसक्ति दिखती है - होती है, तथापि अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है, सुखबुद्धि नहीं है। भोग भुजङ्ग समान लगते हैं, काले नाग दिखते हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(१२)

अब छह गाथाओं में देवादिदेव की स्तुति की जाती है

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१२॥

मुनिगण जिनका करें स्मरण इन्द्र नरेन्द्र करें स्तवन।
वेद पुराण जिसे गाते हैं परम देव को सदा नमन॥१२॥

अन्वयार्थ : [यः] जो **[सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः]** सर्व मुनिश्वरों के समूह द्वारा **[स्मर्यते]** याद किया जाता है / स्मरण किया जाता है, **[यः]** जो **[सर्व-नर-अमर-इन्द्रैः]** सर्व मनुष्य, चक्रवर्ती, देव और इन्द्रों द्वारा **[स्तूयते]** स्तवन किया जाता है **[यः]** जो **[वेदपुराण-शास्त्रैः]** द्वादशांगरूप वेद-पुराण आदि शास्त्रों द्वारा **[गीयते]** गाया जाता है, **[सः]** वह **[देवदेव]** देवाधिदेव **[मम]** मेरे **[हृदये]** हदय में **[आस्ताम्]** विराजमान होओ।

विशेषार्थ - जो आत्मा निजस्वरूप समझता है, वही परमात्मा का सत्यस्वरूप समझ सकता है और वही उनकी स्तुति कर सकता है। इस श्लोक में कही गयी स्तुति व्यवहारनय से है अर्थात् कि वह शुभरागरूप है।

परमात्मा की निश्चयस्तुति का स्वरूप श्री समयसार गाथा ३१ से ३३ में तथा उनकी टीका में कहा है, जिसे वहाँ से समझ लेना चाहिए।

जिसे आत्मा के स्वरूप का भान नहीं होता, उसे व्यवहारस्तुति

भी नहीं होती; उनका शुभभाव, वह व्यवहाराभासी स्तुति है।

'वेद' का अर्थ शास्त्र ज्ञान है। चार अनुयोग को वेद कहा जाता है। प्रथमानुयोग को पुराण कहा जाता है। बाकी के तीन (करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग) के कथन को शास्त्र कहा जाता है।

●●

उसके महासद्भाग्य की क्या बात!

अरे! दुनिया को कहाँ खबर है कि भगवान कैसे होते हैं! उन्हें तो उनके भक्त... साधक धर्मात्मा ही पहचानते हैं। एक उत्तम राजा भी पुण्यप्रकृति से कैसा सुशोभित होता है! तो यह तो तीन लोक के धर्मराजा तीर्थङ्कर.... उनके अन्तर में सर्वज्ञता का अतीन्द्रिय वैभव और बाहर में धर्मसभा का दिव्य वैभव, उनकी महिमा की क्या बात! जहाँ ऊपर से विमान में इन्द्र उतरते हैं और प्रभुचरण में झुकते हैं; सिंह-बाघ जैसे तिर्यञ्च, शान्त होकर प्रभु के मुख को देखते हैं; मुनिराज, प्रभु की भक्ति करते हैं; रत्नों की वृष्टि होती है; अनेक जीव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करते हैं – साधारण पुण्यवाले जीवों को ऐसी बात देखने-सुनने को कहाँ से मिलेगी?

भगवान की ऐसी अचिन्त्य महिमा जिसके अन्तर में हो, उसके महासद्भाग्य की क्या बात! वह तो मानो मोक्ष के दरबार में आया है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ-१११

(१३)

देवादिदेव परमात्मा की स्तुति...

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः, समस्तसंसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१३॥

दर्श–ज्ञान–आनन्द स्वभावी सब विकार से भिन्न हुए।
ध्यानगम्य परमात्म नाम वे परम देव मम हृदय बसें॥१३॥

अन्वयार्थ : [**यः**] जो [**दर्शनज्ञानसुखस्वभावः**] अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख–स्वभाव के धारक हैं, [**समस्तसंसार-विकारबाह्यः**] समस्त संसारी विकारी भावों से पार हैं, [**समाधिगम्यः**] अभेद रत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधि द्वारा गम्य है, [**परमात्मसंज्ञः**] 'परमात्मा' संज्ञा से प्रसिद्ध हैं, [**सः**] वे [**देवदेवः**] देवाधिदेव [**मम**] मेरे [**हृदये**] हृदय में [**आस्तां**] विराजमान होओ।

विशेषार्थ – इस श्लोक में अपने शुद्ध, पूर्ण स्वभावरूप परमात्मा की प्राप्ति की भावना है। जहाँ भगवान विराजमान हों, वहाँ पाखण्ड नहीं होता। मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाखण्ड है, उसे जो जीव टालता है, वही अपनी शुद्धपर्यायें प्रगट कर सकता है। भगवान तो वीतराग हैं। पुण्यभाव भी उन्हें नहीं है, इसलिए भगवान का भक्त प्रशस्तराग अर्थात् पुण्यभाव को धर्म या धर्म का सहायक नहीं मानता; उसकी दृष्टि में राग का आदर होता ही नहीं। साधक अवस्था में जीव को राग होता अवश्य है परन्तु भगवान का भक्त उसे धर्म नहीं मानता। इसलिए वह राग को अल्पकाल में नाश करेगा। राग से अर्थात् पुण्य

से धर्म होता है या पुण्य धर्म में सहायक होता है—ऐसी जिसे मान्यता होती है, वह भगवान की वास्तविक स्तुति या भक्ति नहीं करता परन्तु मिथ्यात्व की स्तुति और भक्ति करता है, अज्ञान के कारण वह स्वयं ऐसा मानता है भगवान की स्तुति या भक्ति करता है। ●●

परिग्रह से आत्मा की शोभा नहीं

प्रभो! आपकी भक्ति, आपके गुणों की स्तुति, मुमुक्षु जीवों को आनन्दित करती है। राग–द्वेषरहित और ज्ञान–आनन्दसहित आप वस्त्राभूषण के बिना ही सर्वोत्कृष्ट रूप से शोभायमान हो रहे हैं। आत्मा की शोभा परिग्रह से नहीं है, वीतरागता से आत्मा की शोभा है। आपकी प्रभुत्वशक्ति भी कैसी आश्चर्यकारी है कि क्रोध किये बिना आपने मोहरूपी शत्रु का हनन कर दिया। स्वयं आत्मा में से ही आप सर्वज्ञरूप से प्रगट हुए हो, इस कारण 'स्वयंभू' – ऐसे आपको नमस्कार हो। आपके जैसे गुण हमारे में भी प्रगट करना, वही आपकी परम स्तुति है; इसलिए आपके जैसे गुणों का अंश अपने में प्रगट करके मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यमी हुआ हूँ। भले ही आपके सम्पूर्ण गुणों की स्तुति वचनों से नहीं होती परन्तु आपके गुणों का प्रेम और उसकी सुकथा भी हमें आनन्द देनेवाली हैं, उसके द्वारा जो हमारे में नहीं हों – ऐसे गुण हम प्रगट करते हैं और ज्ञान से आत्मा की अनुभूति करने में सर्व गुण समाहित हो जाते हैं। ऐसी स्वानुभूतिरूप अभेद भक्ति से मैं भी परमात्मपद प्राप्त करूँगा, तब आपकी स्तुति पूर्ण होगी; वहाँ स्तुति करने योग्य और स्तुतिकार (भगवान और भक्त अथवा साध्य और साधक) – ऐसा भेद भी नहीं रहेगा।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ६७-६८

(१४)

देवाधिदेव की स्तुति....

निषूदते यो भवदु:खजालं, निरीक्षते यो जगदन्तरालं।
योऽन्तर्गतो योगि निरीक्षणीय:, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१४॥

भव-दुख नाशक और जगत का सूक्ष्म निरीक्षक जिनका ज्ञान।
अन्तरंग में योगि जानते जिन्हें देव मम हृदय महान॥१४॥

अन्वयार्थ : [**य:**] जो [**भवदु:खजालं**] भवरूप दु:ख के जाल का [**निषूदते**] विध्वंस करता है, [**य:**] जो [**जगत्-अन्तरालं**] जगत में रही हुई वस्तु का [**निरीक्षते**] निरीक्षण करता है/ सूक्ष्मरूप से देखता है, [**य:**] जो [**अन्तर्गत:**] अन्तरंग में प्राप्त है, [**योगिभि: निरीक्षणीय:**] योगियों द्वारा सूक्ष्मरूप से दिखनेयोग्य है, [**स:**] वह [**देवदेव:**] देवाधिदेव [**मम**] मेरे [**हृदये**] हृदय में [**आस्तां**] विराजो।

विशेषार्थ - अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति को उपचार से देवाधिदेव की प्राप्ति कही जाती है। तीर्थंकरदेव पर हैं, वे कहीं दूसरे जीवों में प्रवेश नहीं कर सकते परन्तु उनका भाव और अपना भाव एक ही प्रकार का हो, वह तीर्थंकरदेव की अन्तरंग प्राप्ति है।

जो अपने स्वरूप को पहचानकर अपने में लीन रहते हैं, वे योगी कहलाते हैं।

भव, वही दु:ख की खान है; **आत्मा के स्वरूप में भव नहीं है, इसलिए सम्यग्दृष्टि को भव की शंका नहीं होती।** सम्यग्दर्शन होने

पर संसारचक्र टल जाता है। भय, वह जीव का विकारीभाव है। सम्यग्दृष्टि जीवों को उस विकार के स्वामित्व का निषेध है, इसलिए अल्पकाल में ही उनकी मुक्ति होती है। जहाँ मिथ्यात्व होता है, वहाँ भव होते ही हैं। सम्यग्दर्शन हो, वहाँ भवभ्रमण कभी होता ही नहीं।

●●

अज्ञानरूपी अन्धकार कैसे रहेगा?

हे देव! आपके गुण में हमारा चित्त लगते ही वह पापरहित विशुद्ध हो जाता है; इसलिए 'मेरा क्या होगा? मैं कर्मों से कब छूटूँगा?' – ऐसी आशंका आपके भक्त को नहीं होती। यहाँ भक्ति में अकेले राग की बात नहीं है, यह तो सर्वज्ञस्वभाव की दृष्टिपूर्वक की भक्ति है। **'मोह मेरा कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ'** – ऐसे लक्ष्य द्वारा धर्मात्मा, समस्त कर्मों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है। अहो देव! आपकी भक्ति से जहाँ ऐसा स्वानुभवरूपी सूर्य उदित हुआ, वहाँ अब हमारे अन्तर में अज्ञानरूपी अन्धकार कैसे रहेगा? भवरहित स्वभाव को भूलकर, अज्ञान से अनन्त भव हो गये, परन्तु अब जिनदेव के शासन में ऐसी भवरहित ज्ञानस्वभाव की भावना में आया, वहाँ अनन्त भव का नाश होकर मोक्ष की साधना प्रारम्भ हो गयी है।

— ***पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ५५***

(१५)

देवाधिदेव की स्तुति... क्रमशः...

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो, यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१५॥

शिव पथ के प्रतिपादक हैं जो जन्म-मरण से हुए अतीत।
जो अकलंक त्रिलोक-विलोकी देव बसें मम हृदय समीप॥१५॥

अन्वयार्थ : [**यः**] जो [**विमुक्तिमार्गप्रतिपादकः**] मोक्ष के प्रतिपादक हैं, [**यः**] जो [**जन्ममृत्युव्यसनात्**] जन्म-मरणरूपी विपत्तियों से [**अतीतः**] रहित हैं। [**त्रिलोकलोकी**] तीन लोक को देखनेवाले हैं, [**विकलः**] शरीररहित हैं, और [**अकलङ्कः**] कलंकरहित हैं। [**सः**] वे [**देवदेवः**] देवाधिदेव [**मम**] मेरे [**हृदये**] हृदय में [**आस्तां**] विराजमान होओ।

विशेषार्थ - इस श्लोक में 'विकल' विशेषण प्रयुक्त हुआ है, इसलिए यह शरीररहित सिद्ध भगवन्त की स्तुति की गयी है - ऐसा समझना। वास्तविकरूप से तो स्वयं सिद्ध अवस्था प्राप्त करे, ऐसी यहाँ भावना है। ●●

(१६)

परमात्मा की स्तुति... क्रमशः...

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गाः रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१६॥

जो समस्त जीवों के ज्ञाता हैं रागादिक दोष विहीन।
ज्ञानमयी अविनाशी इन्द्रिय-रहित देव मम हृदय समीप॥१६॥

अन्वयार्थ : [क्रोडीकृत-अशेषशरीरवर्गाः] समस्त संसारीजीवों को जिन्होंने अपने में समाहित किया है अर्थात् जाना है वे **[रागादयः]** राग आदि **[दोषाः]** दोष **[यस्य]** जिन्हें **[न सन्ति]** नहीं हैं **[निरिन्द्रियः]** जो पाँच इन्द्रियों और मन से रहित हैं। **[ज्ञानमयः]** ज्ञानमय, **[अनपायः]** अविनाशी हैं, **[सः]** वे **[देवदेवः]** देवाधिदेव **[मम]** मेरे **[हृदये]** हृदय में **[आस्तां]** विराजमान होओ।

विशेषार्थ - जो मोह-राग-द्वेष द्वारा अपने में समाहित हैं, वे मिथ्यादृष्टि संसारी जीव हैं, ऐसा इस श्लोक में कहा है। सम्यग्दृष्टि को रागादि स्पर्श नहीं करते; इसलिए वे संसार का अन्त करते हैं। **मिथ्यादृष्टिपना ही संसार का मूल है।** भगवान ने इस मूल का नाश करके भगवतदशा प्रगट की है। सर्व जीव शक्तिरूप से भगवान हैं। जो अपने ऐसे स्वरूप को पहिचानकर, संसार के मूलरूप मिथ्यात्व को टालता है, वह क्रमशः आगे बढ़कर अपना परमात्मस्वरूप प्रगट करके भगवान होता है।

इस श्लोक में अपना परमात्मस्वरूप प्रगट करने की भावना है।

●●

(१७)

श्री जिनेन्द्रदेव की स्तुति.... क्रमशः...

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः, सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१७॥

अखिल विश्व में व्यापक सिद्ध, विशुद्ध, कर्ममल नाशक हैं।
जिनका ध्यान विकार-विनाशक परम देव मम उर तिष्ठें॥१७॥

अन्वयार्थ : [**यः**] जो [**विश्वजनीनवृत्तेः**] सम्पूर्ण जगत के पदार्थों में [**व्यापकः**] व्यापक है, [**सिद्धः**] सिद्ध है, [**विबुद्धः**] विबुद्ध है, [**धुतकर्मबंधः**] जिन्होंने कर्मबन्ध का नाश किया है, [**ध्यातः धुनीते सकलं विकारं**] जिनका ध्यान करने से समस्त विकार कम्पित हो उठता है, [**सः**] वे [**देवदेवः**] देवाधिदेव [**मम**] मेरे [**हृदये**] हृदय में [**आस्तां**] विराजमान होओ।

विशेषार्थ - प्रदेशों की संख्या-अपेक्षा से प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी है और क्षेत्र अपेक्षा से शरीर के आकार उसका वर्तमान आकार होता है, इसलिए क्षेत्र-अपेक्षा से जगत के सभी पदार्थों में केवली भगवान का या किसी का जीव व्यापक नहीं है परन्तु केवलज्ञान में क्षेत्र और काल के भेद बिना जगत के सर्व पदार्थ एक समय में भगवान को ज्ञात होते हैं, इसलिए ज्ञान-अपेक्षा से जीव को सर्वगत अथवा सर्वव्यापक कहा जाता है।

कर्म के तीन प्रकार हैं—(१) भावकर्म, (२) द्रव्यकर्म और (३) नोकर्म (शरीर आदि)। इन तीनों प्रकार के कर्मों से रहित ऐसी

जो सिद्धदशा, वह प्रगट करने की भावना इस श्लोक द्वारा व्यक्त की गयी है। भावकर्म अर्थात् अपने विकारभाव; उनसे ही जीव को वास्तविक बन्ध होता है, क्योंकि भावकर्म द्वारा जीव का ज्ञान विकार में अटक जाता है; (ज्ञानावरणादि जड़) द्रव्यकर्म तो निमित्तमात्र है।

●●

वह महामूर्ख है

आपकी निर्मल परिणति, द्रव्य में से प्रगट हुई है — इस कारण द्रव्य ही आपका कुल है। शारीरिक सम्बन्धों से आपकी पहिचान करनेवाले आपकी पहिचान की विधि से अनभिज्ञ हैं।

यदि कोई हस्तगत सुवर्ण को यह कहकर फेंक दे कि यह तो पत्थर की खान में से उत्पन्न हुआ है तो वह महामूर्ख है। उसी प्रकार जो शरीर के कुल से आपकी पहिचान कराये किन्तु निर्मलानन्द चैतन्यधातु में से आपकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उस कुल को नहीं पहिचाने तो वह भी महामूर्ख है, अज्ञानी है। अचिन्त्य प्रभु अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध ही सर्वज्ञ का 'कुल' है; अत: जो भगवान के शरीर की ही स्तुति करते हैं और शरीर से ही भगवान की पहिचान कराते हैं, वे बड़ी भ्रान्ति में हैं क्योंकि आपकी स्तुति तो आपके गुणों से है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-82)

(१८)

अब चार गाथाओं में परमात्मा की शरण की भावना की जाती है।

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषैर्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरंजनं नित्यमनेकमेकं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥१८॥

तिमिर समूह न छूता रवि त्यों कर्म मैल से अस्पर्शी।
नित्य निरञ्जन एकानेक सु-आप्त देव की शरण गही॥१८॥

अन्वयार्थ : [**तिग्मरश्मिः**] सूर्य [**ध्वान्तसंघैः**] अन्धकार समूह द्वारा [**न स्पृश्यते**] स्पर्शित नहीं होता [**इव**] उसी तरह [**यः**] जो [**कर्मकलङ्कदोषैः**] कर्म-कलंकरूप दोषों द्वारा [**न स्पृश्यते**] स्पर्शित नहीं होता, (ऐसे) [**निरंजनं**] कर्मरूप अंजन से रहित [**नित्यं**] नित्य [**अनेकं**] गुण-पर्याय अपेक्षा से अनेक, [**एकं**] द्रव्य-अपेक्षा से एक, [**तं आप्तदेवं शरणं**] ऐसे उन आप्तदेव की शरण को [**प्रपद्ये**] मैं प्राप्त होता हूँ।

विशेषार्थ - आत्मा को अपने स्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कोई, जगत में शरणरूप नहीं है परन्तु जब राग हो, तब सुपात्र जीवों का लक्ष्य, वीतराग भगवान के प्रति जाता है; इसलिए निमित्तरूप से भगवान का शरण है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार शरण का स्वरूप समझना चाहिए।

इन १८ से २१ तक के ४ श्लोकों में व्यवहारशरण का स्वरूप कहा है और २२ से २६ तक के ५ श्लोकों में निश्चयशरण का स्वरूप कहा है।

●●

(१९)

परमात्मा की शरण की भावना... क्रमशः

विभासते यत्र मरीचिमालिर्न विद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥१९॥

त्रिभुवन भासी प्रभु के सम्मुख दिनकर भी नहिं भासित हो।
सदा निजात्मा में स्थित उन आप्त देव की शरणा हो ॥१९॥

अन्वयार्थ : [भुवनावभासि] तीन लोक को प्रगट करनेवाले **[यत्र]** जिनके **[विद्यमाने]** होने से **[मरीचिमालिः]** सूर्य **[न अवभासते]** फीका पड़ता है, (वैसे) **[स्वात्मस्थितं]** अपने आत्मा में सुस्थित **[तं आप्तदेवं]** आप्तदेव के शरण को **[प्रपद्ये]** प्राप्त होता हूँ।

विशेषार्थ - निश्चय से अपना आत्मा ही आप्तदेव है और तीर्थंकरदेव या सिद्ध भगवन्त तो निमित्तमात्र हैं और इसीलिए वे व्यवहार से आप्तदेव हैं। जिस प्रकार तीर्थंकरदेव तथा सिद्ध भगवान निश्चय से स्वयं अपने ही आप्तदेव हैं, उसी प्रकार प्रत्येक जीव भी निश्चय से अपने-अपने आप्तदेव हैं, ऐसा इस श्लोक में दर्शाया है।

●●

(२०)

परमात्मा की शरण की भावना... क्रमशः

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं, विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२०॥

ज्ञान लखे सब जग को, झलकें भिन्न-भिन्न स्पष्ट पदार्थ।
आदि-अन्त बिन शुद्ध शान्त शिव, शरण प्राप्त मुझको वह आप्त ॥२०॥

अन्वयार्थ : [यत्र] जहाँ **[विलोक्यमाने सति]** ज्ञान में देखने पर **[इदं]** यह **[विश्वं]** विश्व / जगत **[विविक्तं]** भिन्नरूप से **[स्पष्टम्]** अत्यन्त स्पष्टरूप से **[विलोक्यते]** दिखता है, ऐसे **[शुद्धं]** शुद्ध **[शिवं]** कल्याणस्वरूप **[शान्तं]** शान्त (और) **[अनादि-अनंतं]** अनादि-अनन्त **[तं आप्तदेवं शरणं]** उन आप्तदेव की शरण को **[प्रपद्ये]** मैं प्राप्त होता हूँ।

विशेषार्थ - विश्व अर्थात् छह द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल) तथा उन सर्व के गुण और पर्यायें।

शिव अर्थात् उपद्रवरहित, कल्याणस्वरूप परमात्मदशा। राग-आदि वह उपद्रव है।

शान्त अर्थात् निराकुलतारूप आह्लाद-आनन्दवाला; लोग जिसे आनन्दवाला या शान्ति मानते हैं, वह तो आकुलतारूप रति है। अर्थात् दुःख है।

(२१)

परमात्मा के शरण की प्रार्थना... क्रमशः

येन क्षता मन्मथमानमूर्छा, विषादनिद्राभयशोकचिन्ता।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्चस्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥२१॥

काम मान मूर्छा भय निद्रा अरु विषाद चिन्ता जिसके।
नष्ट हुए अग्नि में तरु वत् आप्त देव की शरण मुझे॥२१॥

अन्वयार्थ : [तरुप्रपञ्चः क्षयः] वृक्ष समूह का क्षय **[अनलेन]** अग्नि द्वारा **[इव]** जैसे (होता है) उसी प्रकार **[मन्मथमानमूर्छा विषादनिद्राभयशोक चिन्ता]** काम, मान, मूर्छा, खेद, निद्रा, भय, शोक और चिन्ता **[येन क्षताः]** का जिन्होंने क्षय किया है **[तं आप्तदेवं शरणं]** ऐसे आप्तदेव की शरण को **[प्रपद्ये]** मैं प्राप्त होता हूँ।

विशेषार्थ – इस श्लोक में आप्त पुरुष का विशेष स्वरूप कहा है और उनकी शरण प्राप्त करने की भावना की है। वास्तविक रूप से तो अपने शुद्धात्मस्वरूप के ध्यानरूप अग्नि द्वारा अपने में कामादि विकार मिट जाओ, ऐसी भावना है। ●●

(२२)

सामायिक के लिये आसन

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२२॥

भूमि शिला तृण काष्ठ विनिर्मित–आसन नहीं समाधि–विधान।
क्योंकि कषायेन्द्रिय विहीन आतम ही साधन सुधी–सुमान्य ॥२२॥

अन्वयार्थ : [**विधानतः**] विधिरूप से [**न अश्मा**] न तो शिला, [**न तृणं**] न तो घास, [**न मेदिनी**] न तो पृथ्वी, [**नो फलकः**] न तो लकड़ी का पाट, [**संस्तरो**] आसन (रूप से) [**विनिर्मितः**] नियत हुए हैं / निर्माण हुए हैं [**यतः**] क्योंकि (जिसने) [**निरस्त-अक्षकषायविद्विषः**] भावेन्द्रिय, कषाय, द्वेष इत्यादि नष्ट किये हैं (ऐसा) [**सुनिर्मलः**] सुनिर्मल [**आत्मा**] आत्मा [**एव**] ही (आसन) है (ऐसा) [**सुधीभिः**] सम्यग्ज्ञानियों द्वारा [**मतः**] मान्य हुआ है।

विशेषार्थ - इस श्लोक में सामायिक का स्वरूप दर्शाया गया है। सम+अय+इक=सामायिक। अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा में राग-द्वेषरहित समभाव का लाभ हो, ऐसा शुद्धभाव, जिस जीव ने सम्यग्दर्शन प्राप्त न किया हो, उस जीव को आत्मा के शुद्धस्वरूप की खबर नहीं होने से वह शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं कर सकता, अर्थात् उसे सामायिक नहीं होती।

संस्तर=आसन, कटासन, बिछौना, बाह्य वस्तुएँ आत्मा का आसन नहीं हो सकती परन्तु आत्मा में स्थिरता प्राप्त करना, वही आत्मा का

सच्चा आसन कटासन-बिछौना है, ऐसा यहाँ कहा है।

कषाय का सामान्य अर्थ मिथ्यात्व और राग-द्वेष होता है। बहुत से जीव मात्र राग-द्वेष को ही कषाय समझते हैं, परन्तु वह समीचीन नहीं है। जीव जब सम्यक्त्व प्रगट करके मिथ्यात्व टालता है, तब अनन्त संसार के कारणरूप अनन्तानुबन्धी कषाय अर्थात् परवस्तु से लाभ-नुकसान होता है—ऐसी मान्यतापूर्वक होनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ टलते हैं। इसलिए जब सराग सम्यग्दृष्टि जीवसम्बन्धी 'कषाय' शब्द प्रयोग किया जाए, तब जीव को चारित्र के दोष से होनेवाले राग-द्वेष हैं, ऐसा समझना।

अक्ष=इन्द्रिय; इन्द्रिय के दो प्रकार हैं। एक द्रव्येन्द्रिय और दूसरी भावेन्द्रिय। उनमें द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं : (१) पुद्गल जड़ इन्द्रिय, (२) चेतन द्रव्येन्द्रिय। पुद्गल जड़ इन्द्रिय है, वह तो (परद्रव्यरूप) पुद्गलद्रव्यों का स्कन्ध है और वह आत्मा को लाभ-नुकसान नहीं कर सकता तथा आत्मा उनका नाश नहीं कर सकता। जिस स्थल में पुद्गल इन्द्रिय है, उसी स्थल में पुद्गल इन्द्रिय के आकार आत्मप्रदेशों की रचना होती है, वह चेतन द्रव्येन्द्रिय कहलाती है, वह भी आत्मा को लाभ-नुकसान नहीं करती।

चेतनद्रव्येन्द्रिय द्वारा जानने की क्षयोपशमरूप शक्ति, वह भावेन्द्रिय है; यह भावेन्द्रिय यद्यपि आत्मा के ज्ञान का उघाड़ है, तथापि वह आत्मा का स्वभावभाव नहीं है।

सम्यग्दृष्टि, आत्मा की अपूर्ण अवस्था को, परमार्थ से अपनी अवस्थारूप से स्वीकार नहीं करता। इसलिए पुरुषार्थ द्वारा क्रम-क्रम से भावेन्द्रिय को टालकर अर्थात् उस ओर के उपयोग को टालकर निजस्वरूप में स्थित होकर सम्पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त करता है।

इस प्रकार भावेन्द्रिय जीव का स्वभावभाव नहीं होने से और

उस द्वारा होता व्यापार राग–द्वेषमय होने से उस पर्याय को आत्मा का शत्रु गिनकर उसे टालने का यहाँ उपदेश दिया है।

प्रथम सम्यग्दर्शन होने पर मान्यता में भावेन्द्रिय जीती जाती है और तत्पश्चात् वह सम्यग्दृष्टि जीव पुरुषार्थ बढ़ाकर जितने अंश में राग–द्वेष टालता है, उतने अंश में भावेन्द्रिय और कषाय, चारित्र अपेक्षा से नष्ट होते हैं। कषाय सर्वथा मिटने पर आत्मा की क्षीण कषायी अवस्था प्रगट होती है और तत्पश्चात् अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट होता है, तब भावेन्द्रिय सर्वथा नष्ट हो जाती है। ●●

जब सर्वज्ञस्वभाव का भान हुआ तब...

हे भगवान! ऐसा कौन बुद्धिमान है जो आपकी स्तुति नहीं करेगा? अहो! आपकी सर्वज्ञता को लक्ष्य में लेकर, जिसका चित्त आपकी भक्ति में लीन हुआ है, उसे जगत् का भय नहीं होता। अरे! क्रूर सिंह, हिरण को मारने के लिए छलाँग मारे; हिरण, सिंह के पञ्जों के बीच पड़ा हो, लेकिन आपकी भक्ति की शरण लेते ही उसे सिंह का भय नहीं रहता। हे नाथ! आपकी भक्ति करते हुए, मुझे मेरे सर्वज्ञस्वभाव का भान हुआ और स्वभाव की शरण लेते ही क्रूर कर्म के उदयरूप सिंह या प्रतिकूलता के संयोग की दौड़ से हम दबनेवाले नहीं हैं; कर्मरूपी सिंह के पञ्जे हम पर चलनेवाले नहीं हैं। देखो! बाहर में सिंह की बात की है, अन्दर में यह बात है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ २५

(२३)

बाह्य वासना छोड़कर आत्मा में लीनता ही सामायिक

न संस्तरो भद्र! समाधिसाधनं, न लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम्॥२३॥

लोक पूज्यता संघ सम्मिलन संस्तर नहिं समाधि–साधन।
अत: छोड़ सब बाह्य–वासना रहो निरन्तर थिर आतम॥२३॥

अन्वयार्थ : [**भद्र!**] हे भद्र ! [**यत:**] क्योंकि [**समाधिसाधनं**] समाधि या सामायिक का साधन [**न संस्तरो**] नहीं आसन (कि) [**न लोकपूजा**] नहीं लोक की पूजा, [**न संघमेलनं**] या नहीं संघ की संगति, [**तत:**] इसलिए [**सर्वाम् अपि बाह्यवासनाम्**] सर्व बाह्य वासनाएँ [**विमुच्य**] तजकर [**अध्यात्मरत:**] अध्यात्म–लीन [**अनिशं**] निरन्तर [**भव**] होओ।

विशेषार्थ - आत्मा की शुद्धपर्याय, वह सामायिक है। उसका साधन अन्तर में है; कोई बाह्य पदार्थ नहीं। आसन लोकपूजा या संघ इत्यादि बाह्य वस्तुएँ सामायिक का साधन नहीं हैं, इसलिए उन सर्व की ओर से दृष्टि / लक्ष्य हटाकर आत्मा की ओर उन्मुख होना और उसमें स्थिर होना, वह वास्तविक निश्चय सामायिक है; ऐसी सामायिक करने की यहाँ भावना की है। निजस्वरूप सम्बन्धी विकल्प बाह्य पदार्थ के लक्ष्य से होता है, इसलिए वह बाह्य है, इसलिए वह विकल्प छोड़कर निर्विकल्प स्वरूप में रसलीन होने को यहाँ कहा है।

जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र स्वभावरूप परमार्थभूत ज्ञान का परिणमनमात्र एकाग्रतारूप लक्षणवाला और शुद्धात्मस्वरूप है, वही सच्चा (निश्चय) सामायिक है, वह मोक्ष का कारणभूत है।

(समयसार गाथा 154 की टीका)

(२४)

मुक्ति के लिये आत्मस्वभाव में स्वस्थ होने का उपदेश

न सन्ति बाह्याः मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र! मुक्त्यै ॥२४॥

बाह्य पदार्थ न कुछ भी मेरे मैं भी उनका नहीं कदाप।
अतः भद्र ! तज बाह्य वस्तु को मुक्ति हेतु निज में थिर आप ॥२४॥

अन्वयार्थ : [**बाह्याः केचन अर्थाः**] बाह्य कोई भी पदार्थ [**मम**] मेरे [**न सन्ति**] नहीं हैं; [**अहं**] मैं [**कदाचन**] कदापि [**तेषां**] उनका [**न भवामि**] नहीं हो सकता–[**इत्थं**] इस प्रकार [**विनिश्चित्य**] बराबर निश्चय करके [**भद्र!**] हे भद्र! [**त्वं**] तू [**बाह्यं**] बाह्य भाव [**विमुच्य**] सम्पूर्णरूप से छोड़कर [**मुक्त्यै**] मुक्ति के लिये [**सदा**] सदा [**स्वस्थः**] स्वस्थ [**भव**] हो।

विशेषार्थ – विकल्प, राग–द्वेष, शुभ–अशुभभाव शरीर इत्यादि पदार्थ और अन्य जीव, ये सर्व तेरे आत्मा से बाह्य है; इसलिए उस ओर का ममत्व तजकर तेरे आत्मा के प्रति लक्ष्य करके स्थिर हो। इससे तेरे आत्मा में शुद्धदशा प्रगट होगी।

'विनिश्चय' शब्द ऐसा सूचित करता है कि स्व–पर के भेदज्ञान का निश्चय करने की जीव को विशेष आवश्यकता है; स्व–पर का स्वरूप समझे बिना कदापि भेदज्ञान नहीं होता और भेदज्ञान बिना कदापि धर्म नहीं हो सकता; इसलिए उसका निश्चय करके, उस निश्चय को दृढ़ करने का यहाँ कहा है। ●●

(२५)

आत्मध्यान की स्थिरता से समाधि की प्राप्ति

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र, स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्॥२५॥

जो अपने को अपने में दृग-ज्ञान स्वरूप विशुद्ध लखे।
वह थिर चित्त लखे पर को भी निश्चय से समभाव रखे॥२५॥

अन्वयार्थ : [**आत्मनि**] अपने में [**आत्मानं**] अपने आत्मा को [**अवलोक्यमानः**] अवलोकन करनेवाला [**त्वं**] तू [**दर्शनज्ञानमयः**] दर्शन-ज्ञानमय [**विशुद्धः**] विशुद्ध है। [**एकाग्रचित्तः**] एकाग्र-चित्तवाला [**साधुः**] साधु [**यत्र तत्र**] चाहे जहाँ [**स्थितः अपि**] स्थित होने पर भी [**खलु**] निश्चय से [**समाधिं**] समताभाव को [**लभते**] प्राप्त करता है।

विशेषार्थ - अपने शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा (ज्ञायक) स्वभाव को पहिचानकर जो उसमें एकाग्र होता है, उसे शुद्धता प्रगट होती है।

●●

(२६)

आत्मा का और बाह्य पदार्थों का स्वरूप

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥

मेरा आत्मा शाश्वत निर्मल अक्षत ज्ञान स्वभावी है।
बाह्य वस्तुएँ क्षणभंगुर सब कर्म-जन्य हैं अपने में ॥२६॥

अन्वयार्थ : [मम] मेरा **[आत्मा]** आत्मा **[सदा]** हमेशा **[एकः]** एक **[शाश्वतिकः]** शाश्वत **[विनिर्मलः]** विशेष निर्मल (और) **[साधिगमस्वभावः]** ज्ञानस्वभावमय है **[अपरे]** अन्य **[समस्ताः]** सर्व **[बहिर्भवाः]** बाहर रहे हुए पदार्थ **[न शाश्वताः सन्ति]** शाश्वत नहीं **[कर्मभवाः]** कर्मरूप निमित्तवाले हैं, तथा **[स्वकीयाः]** स्वयं अपने-अपने से हैं।

विशेषार्थ - आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वभावी है; आत्मा से भिन्न जो परपदार्थ हैं, वे सर्व अपने-अपने कारण से अपनी अवस्था धारण करते हैं। वे परपदार्थ जीव को कुछ लाभ-नुकसान नहीं कर सकते; और आत्मा उन्हें कुछ नहीं कर सकता। इसलिए पर से लाभ-नुकसान होता है, प्रथम ऐसी मान्यता छोड़कर जो जीव अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञानमात्ररूप स्वभाव का निर्णय करता है, वही अपने आत्मा में स्थिरतारूप सामायिक प्रगट कर सकता है, ऐसा इस श्लोक में दर्शाया है। ●●

(२७)

आत्मा का पर से भिन्नपना विचार करता है

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्धं तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

जिसका तन में नहिं ममत्व तो कैसे सुत तिय मित्रों से।
तन से चर्म पृथक् होने पर रोम समूह रहें कैसे ॥२७॥

अन्वयार्थ : [**यस्य**] जिसका [**वपुषा सार्धं अपि**] शरीर के साथ भी [**ऐक्यं**] ऐक्य / एकत्व [**न अस्ति**] नहीं, [**तस्य**] उसका [**पुत्रकलत्रमित्रैः**] पुत्र, पत्नी या मित्र के साथ [**किं अस्ति**] (ऐक्य) कैसे हो सकता है ? [**हि**] क्योंकि [**चर्मणि**] चमड़ी [**पृथक्कृते**] पृथक् / भिन्न करने पर [**रोमकूपाः**] रोम के छिद्र [**शरीरमध्ये**] शरीर में विद्यमान [**कुतः**] किस प्रकार [**तिष्ठन्ति**] रह सकते हैं ?

विशेषार्थ - जहाँ शरीर ही आत्मा का नहीं तो फिर शरीर के आश्रय से गिने जानेवाले सगे-सम्बन्धी आत्मा के कहाँ से होंगे ? शरीर से आत्मा का भिन्नत्व दृढ़ करने के लिये यहाँ शरीर की चमड़ी और रोम के छिद्रों का दृष्टान्त दिया गया है। शरीर और उसके आश्रय से गिने जानेवाले सगे-सम्बन्धी इत्यादि तुझसे भिन्न हैं, इसलिए तू उनका कुछ नहीं कर सकता और वे तेरा कुछ नहीं कर सकते। ऐसी मान्यता दृढ़ करके आत्मा में स्थिर होने का इस श्लोक में दर्शाया है।

अभी ही शरीर मुझसे भिन्न है; मैं उसका कुछ नहीं कर सकता, उसे हिला-चला नहीं सकता—ऐसा जो नहीं मानते, वे आत्मा को और शरीर को एक मानते हैं; इसलिए उन्हें कभी सामायिक होती ही नहीं।

(२८)

आत्मा को बाह्य संयोग के लक्ष्य से दुःख होता है, ऐसा अब कहते हैं

संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्॥२८॥

प्राणी जन्म-विपिन में पर का लक्ष्य करें अति दुःख भोगें।
आत्म-शान्ति इच्छुक जन मन-वच-तन से पर का लक्ष्य तजें॥२८॥

अन्वयार्थ : [**यतः**] यदि [**शरीरी**] शरीरधारी जीव [**जन्मवने**] जन्मरूप वन में [**संयोगतः**] संयोग के लक्ष्य से [**अनेकभेदं**] अनेक प्रकार के [**दुःखं**] दुःख [**अश्नुते**] भोगते हैं [**ततः**] तो [**आत्मनीनां**] आत्मा की [**निर्वृतिं**] निवृत्ति (शान्ति-आनन्द) [**यियासुना**] प्राप्ति के इच्छुकों को [**त्रिधा**] मन-वचन-काय ऐसे त्रिविध जुड़ान से हटकर [**असौ**] इन संयोग के लक्ष्य को [**परिवर्जनीयः**] छोड़ना चाहिए।

विशेषार्थ – जीव अनादि से सुख का उपाय चूक गया होने से अज्ञानभाव से जन्म धारण करके भटकता है। यहाँ जन्म को वन की उपमा दी है। जीव अज्ञानदशा में अपना स्वभाव चूककर पर के ऊपर लक्ष्य करता है और उनसे अपने को लाभ-नुकसान होता है, ऐसा वह मानता है। जिन परपदार्थों के प्रति स्वयं लक्ष्य करता है, वे परपदार्थ 'संयोग' कहलाते हैं। संयोग से लाभ-नुकसान हो, ऐसी विपरीत मान्यता की पकड़ के कारण परपदार्थ को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनके ग्रहण-त्याग की आकुलता जीव सेवन करता है। परवस्तुओं सम्बन्धी इच्छा का सतत प्रवाह जोशाभरा चलाता है, वही दुःख है और वह

विकार होने से अनेक प्रकार का होता है। कम आकुलता (पुण्यभाव) भी वास्तव में दु:ख ही है, तथापि अज्ञानभाव से उसे सुख मानकर जीव भ्रमणा का सेवन कर रहा है और उसके फलरूप से जन्मरूप वन में चक्कर लगाया करता है।

उन दु:खों को मिटाने के लिये स्ववस्तु और परवस्तु के स्वरूप को जानकर यथार्थ भेदज्ञान करके, परसन्मुख का लक्ष्य छोड़कर स्वसन्मुख ढलना चाहिए, ऐसा करे तो ही जीव का दु:ख मिटता है। इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य उपाय से दु:ख नहीं मिटता।

प्रश्न - पुण्य से दु:ख मिटता है या नहीं?

उत्तर - नहीं, क्योंकि पर के प्रति लक्ष्य बिना पुण्य होता ही नहीं। यदि पर के लक्ष्य से दु:ख मिटता हो तो इस जन्मवन में मिथ्यादृष्टि के लायक सब पुण्य जीव ने किया, तथापि दु:ख और जन्म ऐसे के ऐसे खड़े रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि पुण्य दु:ख मिटाने का उपाय नहीं। अर्थात् कि पुण्य से धर्म होता है या वह धर्म को सहायक होता है, ऐसा नहीं है। इस प्रकार पुण्य-पापरहित निज स्वभाव का निर्णय करके त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप की ओर ढले बिना कभी धर्म की शुरुआत नहीं होती और दु:ख नहीं मिटते। अज्ञानी पुण्य को धर्म का परम्परा कारण मानते हैं, यह मिथ्या मान्यता है; अज्ञानी को पुण्य सर्व अनर्थ का परम्परा कारण होता है, ऐसा श्री पंचास्तिकाय की गाथा 167 और उसकी टीका में कहा है।

आत्मा में से हटकर मन-वचन-काया की ओर का जुड़ान हुए बिना परलक्ष्य नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को अभिप्राय में से प्रथम मन-वचन-काया की ओर का जुड़ान सर्वथा टल जाता है और पश्चात् स्वरूप-स्थिरता द्वारा जैसे-जैसे चारित्रदोष टलता जाता है, वैसे-वैसे मन-वचन-काया की ओर का जुड़ान छूटता जाता है। यही सुख प्राप्त करने का सच्चा उपाय है, ऐसा इस श्लोक में दर्शाया है। ●●

(२९)

विकल्पजाल तोड़कर आत्मा में लीन होने का उपदेश

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्षमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

दुर्गम भव-वन भ्रमण हेतु जो सर्व विकल्प समूह तजो।
पर से भिन्न आत्म-अवलोकन करके मित्र परमात्म भजो ॥२९॥

अन्वयार्थ : [संसारकान्तारनिपातहेतुं] संसाररूप दुर्गम जंगल में भटकने के हेतुभूत **[सर्वं विकल्पजालं]** सर्व विकल्प जाल को **[निराकृत्य]** हटाकर / तोड़कर **[विविक्तं]** सर्व से भिन्न **[आत्मानं]** आत्मा को **[अवेक्षमाणः]** अवलोकता हुआ **[त्वं]** तू **[परमात्मतत्त्वे]** परम आत्म-तत्त्व में **[निलीयसे]** लीन हो।

विशेषार्थ - मैं पर का कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है अथवा एक-दूसरे के निमित्त हो सकते हैं, ऐसा जो मानता है, उसे मिथ्या विकल्प के जाल कभी नहीं टूटते और आत्मा का लक्ष्य नहीं होता। वह विकल्प जाल तोड़ने का उपाय इस श्लोक में दर्शाया है। स्वयं अपने आत्मा को सबसे भिन्न अवलोकन करना, ऐसा आत्मावलोकन करने पर उसे पुण्य के प्रति विकल्प टूट जाता है। अपनी अवस्था में होते पुण्य-पापरूप विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है, तो शरीर इत्यादि जो प्रत्यक्ष भिन्न है, वह आत्मा के किस प्रकार हो सकते हैं ? हो ही नहीं सकते। इसलिए पर से और विकार से भिन्न (ऐसे) अपने सिद्धसमान परमात्मतत्त्व में लीन होने का अभ्यास करना। इस अभ्यास द्वारा संसाररूप वन में भटकानेवाले विकल्पजाल का नाश होता है।

●●

(३०)

पुण्य-पाप अनुसार संयोग का सम्बन्ध होता है, ऐसा कहते हैं

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

अपने पहले किये कर्म का फल शुभ-अशुभ जीव पाता।
यदि पर के द्वारा फल मिलता स्वयं किया निष्फल होता ॥३०॥

अन्वयार्थ : [**पुरा**] पूर्व में [**यत्**] जो [**कर्म**] कर्म [**स्वयं आत्मना**] स्वयं आत्मा द्वारा [**कृतं**] किये गये, [**तदीयं**] उनका ही [**शुभं-अशुभं**] शुभ-अशुभ [**फलं**] फल (वह) [**लभ्यते**] आत्मा प्राप्त करता है, [**यदि**] यदि [**परेण दत्तं**] पर के द्वारा दिया गया (शुभाशुभ फल) [**लभते**] प्राप्त हो [**तदा**] तो [**स्वयं कृतं**] स्वयं ही किया हुआ [**कर्म**] कर्म [**निरर्थकं**] व्यर्थ जाए (यह) [**स्फुटं**] प्रगट है।

विशेषार्थ - इस श्लोक में कहा है कि चेतन और अचेतन कोई भी परपदार्थ आत्मा को सुख-दुःख नहीं दे सकते। इसलिए पर से मुझे लाभ-नुकसान होता है, यह मान्यता एकदम छोड़ देना चाहिए। आत्मा को जो कुछ शुभाशुभ संयोग-वियोग का सम्बन्ध होता है, वह स्वयं के किये हुए पुण्य-पाप अनुसार होता है, परन्तु वह संयोग-वियोग सुख-दुःख नहीं दे सकते। संयोग-वियोग में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना, वह दुःख का कारण है।

श्री प्रवचनसार के दूसरे अध्याय की 24वीं गाथा में कहा है कि–

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो॥२४॥

अर्थ – रागादि अशुद्ध परिणतिरूप विभाव से उत्पन्न होती जीव की क्रिया—मोहक्रिया अफल नहीं है परन्तु संसाररूप फल को देनेवाली होने से सफल है। परन्तु सम्यग्दर्शनपूर्वक स्थिरतारूप परमधर्म निष्फल है अर्थात् वह नर–नारकादि संसार पर्यायरूप फल से रहित है, इसलिए मिथ्यात्वरूप अशुद्धपरिणति प्रथम छोड़ना चाहिए।

शुरुआत में '**पुरा यत् कर्म आत्मना स्वयं कृतम्**'–'पूर्व में जो कर्म आत्मा ने स्वयं किया है', ऐसा कहा है, वहाँ पूर्व कर्म बाँधने में जीव के विकार का निमित्तपना था, इतना बताने के लिये है। जीव ने पूर्व में विकारभाव करने पर जो कर्म बाँधे, वे आत्मा ने स्वयं किये हैं, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तविक रीति से आत्मा जड़कर्म कर नहीं सकता, क्योंकि आत्मा चेतनद्रव्य है और जड़कर्मरूप अनन्त पुद्गल अचेतनद्रव्य है।

'**स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं**'—इस पद का अर्थ समझने की आवश्यकता है। जीव स्वयं जो भाव करता है, वह निश्चय से स्वयंकृत कर्म है और उस भावकर्म का कर्ता–भोक्ता जीव एक ही समय में (वह भाव करते समय ही) होता है। शुद्धभाव करे, वह शुद्धभाव का और अशुद्धभाव करे तो अशुद्धभाव का कर्ता तथा भोक्ता उसी समय में जीव होता है, अर्थात् वह भावकर्म निरर्थक नहीं है। जीव जब अशुद्धभाव करे, तब निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण से जो नये कर्म जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से बँधते हैं, वे भी उपचार से 'स्वयं कृत कर्म' कहलाते हैं।

जड़कर्म दो प्रकार के हैं—(1) घाति, (2) अघाति। उनमें

घातिकर्म निरर्थक नहीं जाते, उसका अर्थ यह है कि उनके उदय समय जितने दर्जे जीव उसमें जुड़ान करे, उतने दर्जे आत्मा में विकारी भाव होता है। उस घातिकर्म का भोग उपचार से हुआ कहलाता है और उतने दर्जे वे कर्म निरर्थक नहीं होते, ऐसा कहना, वह भी उपचार है।

यदि जीव स्वपुरुषार्थ से कर्म के उदय में जितने अंश में न जुड़े, उतने अंश में वे कर्म निर्जरित हो जाते हैं। जब जीव विकार न करनेरूप जो पुरुषार्थ किया, तब उस कर्म का उदय निर्जरारूप हुआ, इस प्रकार उस कर्म का भोग जीव ने किया, ऐसा उपचार से कहा जाता है। अघातिकर्म के उदय के समय बाह्य संयोग-वियोग का सम्बन्ध होता है। जीव उसका ज्ञाता-दृष्टा रहे तो सुखी हो और संयोग-वियोग में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करे तो दुःखी हो। इस प्रकार स्वयंकृत कर्म निरर्थक नहीं, ऐसा इस पद का अर्थ समझना चाहिए।

●●

सज्जनों का चित्त प्रसन्न होता है

धर्मात्मा का हृदय, परमात्मा के गुणों के प्रति आनन्द से उल्लसित होता है। प्रभो! कुकवि जो विषय-कषायों की पोषक काव्य रचना करते हैं, वह शोभा को प्राप्त नहीं होती; वह तो जीवों का अहित करनेवाली है परन्तु आपके वीतरागी गुणों का स्तवन तो विषय-कषायों से छुड़ाकर वीतरागता की भावना जागृत करता है; इसलिए वह सुन्दररूप से शोभा को प्राप्त होता है, उसे सुनकर सज्जनों का चित्त प्रसन्न होता है। — ***पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ६१***

(३१)

आत्मस्वरूप में अनन्यता का उपदेश

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥

स्वयं उपार्जित कर्म–सिवा नहिं कोइ किसी को दे कुछ भी।
पर देता है–ऐसी मति तज निज में ही जोड़ो निज धी ॥३१॥

अन्वयार्थ : [देहिनः] जीव के **[निजार्जितं]** अपने उपार्जन किये हुए **[कर्म विहाय]** कर्म के अतिरिक्त **[कः अपि]** कोई भी **[कस्य अपि]** किसी को भी **[कंचन]** कुछ भी **[न ददाति]** देता नहीं **[एवं]** ऐसा **[विचारयन्]** विचारकर **[परः]** पर / अन्य **[ददाति]** देता है **[इति]** ऐसी **[शेमुषीं]** बुद्धि **[विमुच्य]** छोड़कर **[अनन्य-मानसः]** आत्मा द्वारा अपना अनन्यपना विचारना।

विशेषार्थ – एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, यह सिद्धान्त यहाँ प्रतिपादित किया है। इसलिए कोई भी मुझे सुख-दुःख, सुविधा–असुविधा या धन, मकान इत्यादि कुछ भी दे सकता है, यह मिथ्याबुद्धि छोड़ना चाहिए।

पूर्व–कृत विकारी भावों का निमित्त पाकर स्वयं आये हुए जड़कर्म भी तुझे कुछ नहीं कर सकता, जब परवस्तु का संयोग–वियोग होना हो, तब कर्म की उदयरूप उपस्थिति होती है, इतना सम्बन्ध जान लेना चाहिए परन्तु जीव के भाव में कर्म का उदय कुछ भी नहीं कर सकता। यदि इस प्रकार यथार्थ जाने तो ही जीव अपने

में एकाग्र हो सकता है। जड़कर्म उदय में आकर जीव को फल दे, ऐसा कहना व्यवहार कथन है। यहाँ इतना ही अर्थ समझना कि परवस्तु का संयोग–वियोग स्वयं अपने–अपने से होता है। मात्र उसके अनुकूल अघातिकर्म का उदय उस समय स्वयं उदयरूप होता है। जीव उस समय स्वलक्ष्य चूककर संयोग का लक्ष्य करे तो विकार होता है और उस समय घातिकर्म का उदय हुआ कहलाता है। यदि जीव स्वलक्ष्य में रहकर विकार न करे तो वही घातिकर्म की निर्जरा हुई, ऐसा कहलाता है। इस प्रकार जीव के भाव का आरोप कर्म में आता है।

आत्मा का भाव आत्मा में है और कर्म की उस समय की अवस्था तो कर्म में ही है, वह आत्म प्रदेश से पृथक् पड़नेरूप ही है, वह कर्म आत्मा को कुछ नहीं करता, ऐसा जानकर कर्म की ओर संयोग की दृष्टि छोड़कर अपना अपने से अनन्यपना विचारकर, अपने आत्मस्वरूप में दृष्टि करके एकाग्र होना, ऐसा इस श्लोक में कहा है। ●●

प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग

अहा! मुनिदशा कैसी होती है? उसका विचार तो करो! छठवें–सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले वे मुनि, स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। **प्रचुर स्वसम्वेदन ही मुनि का भावलिङ्ग है और शरीर की नग्नता–वस्त्रपात्ररहित निर्ग्रन्थदशा, वह उनका द्रव्यलिङ्ग है।** उनको अपवाद–व्रतादि का शुभराग आता है, किन्तु वस्त्रग्रहण का अथवा अध:कर्म तथा औद्देशिक आहार लेने का भाव नहीं होता। — *जिणसासणं सव्वं, २१४, पृष्ठ १३०*

(३२)

आत्मध्यान से मुक्ति की प्राप्ति

यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते, मुक्तिनिकेतं विभववरं ते॥३२॥

पर से भिन्न–रु दोष रहित परमात्मा अमितगति से वन्द्य।
जो नित ध्याते स्थिर मन से वे पाते हैं, मुक्ति सदन॥३२॥

अन्वयार्थ : [अमितगतिवन्द्यः] (इस पुस्तिका/सामायिक पाठ के कर्ता) अमितगति आचार्य के द्वारा अथवा तो अपार ज्ञान सम्पन्न गणधर आदि द्वारा वन्दित **[सर्वविविक्तः]** सर्व से भिन्न **[भृशं अनवद्यः]** अत्यन्त निर्दोष **[परमात्मा]** परमात्मा **[यैः]** जिन (भव्य जीवों) द्वारा **[शश्वत्]** निरन्तर **[मनसि]** एकाग्र चित्त से **[अधीतः]** ध्याया जाता है, **[ते]** वे जीव **[विभववरं]** उत्कृष्ट वैभवी **[मुक्तिनिकेतं]** मुक्ति निवास को **[लभन्ते]** प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ – त्रिकाल शुद्ध निजात्मा ही ध्यान करनेयोग्य है; और उसका फल मुक्ति है, ऐसा यहाँ कहा है परन्तु यह खास ध्यान रखना कि प्रथम शुद्धात्मा का स्वरूप जाने बिना उसका ध्यान नहीं हो सकता। इसलिए मोक्षार्थियों को प्रथम शुद्धात्मस्वरूप जानना और पश्चात् शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए। आत्मा की पहिचान बिना का ध्यान तो खरगोश के सींग के ध्यान करने समान मिथ्या है। कितने ही जीव आत्मस्वरूप समझे बिना जो ध्यान करते हैं, वह धर्मध्यान नहीं है परन्तु वह तो मूढ़ता की वृद्धि करनेवाला ध्यानाभास है। इसलिए निज शुद्धात्मस्वरूप यथार्थ समझने के लिये जीव को कटिबद्ध होना योग्य है।

●●

(३३)

अन्तिम मंगल द्वारा सामायिक का फल

इति द्वात्रिंशतैर्वृतैः परमात्मानमीक्षते।
योऽनन्यगतचेतस्को यात्यसौ पदमव्ययम्॥३३॥

अमितगति आचार्यकृत यह सामायिक पाठ।
समता रस की भावना से छाया-अनुवाद॥
शब्द अर्थ मात्रादि की यदि हो किञ्चित भूल।
ध्यानाकर्षित बुध करें भाव रहें अनुकूल॥

अन्वयार्थ : [**इति**] इस प्रकार [**द्वात्रिंशतैर्वृतैः**] बत्तीस श्लोक (द्वारा) [**यः**] जो [**अनन्यगतचेतस्कः**] एकाग्रचित्त चैतन्य (आत्मा) [**परमात्मानं**] परमात्मा को [**ईक्षते**] देखता / अनुभव करता है [**असौ**] वह [**अव्ययं पदं**] अविनाशी पद / मोक्ष को [**याति**] प्राप्त हो जाता है।

विशेषार्थ - ये श्लोक मात्र मुख से बोल जाने के लिये नहीं है परन्तु इनका अर्थ समझकर इनके भाव का भासन होने की आवश्यकता है। इसलिए इनके भाव समझकर अपने त्रिकाल शुद्ध अभेद चिदानन्द परमात्मस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें ही लक्ष्य करके स्थिर होना, वह सामायिक का प्रयोजन है और उसका फल सिद्धिपद की प्राप्ति है।

इति शुभम्

बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा

पद्यानुवाद

प्रेमभाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो।
करुणा-स्रोत बहें दुःखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो ॥1॥

यह अनन्त बल-शील आतमा, हो शरीर से भिन्न प्रभो।
ज्यों होती तलवार म्यान से, वह अनन्त बल दो मुझको ॥2॥

सुख-दुःख, वैरी बन्धु वर्ग में काँच कनक में समता हो।
वन उपवन, प्रासाद-कुटी में, नहीं खेद नहिं ममता हो ॥3॥

जिस सुन्दरतम पथ पर चलकर, जीते मोह मान मन्मथ।
वह सुन्दर-पथ ही प्रभु मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ ॥4॥

एकेन्द्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो।
शुद्ध हृदय से कहता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो ॥5॥

मोक्षमार्ग प्रतिकूल प्रवर्त्तन, जो कुछ किया कषायों से।
विपथ-गमन सब कालुष मेरे, मिट जावें सद्भावों से ॥6॥

चतुर वैद्य विष विक्षत करता, त्यों प्रभु! मैं भी आदि उपान्त।
अपनी निन्दा आलोचन से, करता हूँ पापों को शान्त ॥7॥

सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया।
व्रत-विपरीत प्रवर्तन करके, शीलाचरण विलीन किया ॥8॥

कभी वासना की सरिता का, गहन-सलिल मुझ पर छाया।
पी पी कर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया ॥9॥

मैंने छली और मायावी, हो असत्य आचरण किया।
पर-निन्दा, गाली चुगली जो, मुँह पर आया वमन किया ॥10॥

निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
निर्मल जल की सरिता सदृश, हिय में निर्मल ज्ञान बहे ॥11॥
मुनि चक्री शक्री के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे।
गाते वेद पुराण जिसे, वह परमदेव मम हृदय रहे ॥12॥
दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये।
परम ध्यान गोचर परमातम, परमदेव मम हृदय रहे ॥13॥
जो भव दुःख का विध्वंसक है, विश्व विलोकी जिसका ज्ञान।
योगी-जन के ध्यानगम्य वह, बसे हृदय में देव महान ॥14॥
मुक्ति-मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म-मरण से परम अतीत।
निष्कलङ्क त्रैलोक्य दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप ॥15॥
निखिल-विश्व के वशीकरण में, राग रहे ना द्वेष रहे।
शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूपी, परमदेव मम हृदय रहे ॥16॥
देख रहा जो निखिल विश्व को, कर्म कलङ्क विहीन विचित्र।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र ॥17॥
कर्म-कलङ्क अछूत न जिसका, कभी छू सके दिव्य प्रकाश।
मोह-तिमिर को भेद चला जो, परम शरण मुझको वह आप्त ॥18॥
जिसकी दिव्य ज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्य प्रकाश।
स्वयं ज्ञानमय स्व-पर प्रकाशी, परम शरण मुझको वह आप्त ॥19॥
जिसके ज्ञानरूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।
आदि-अन्त से रहित शान्त शिव, परमशरण मुझको वह आप्त ॥20॥
जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव।
भय-विषाद-चिन्ता सब जिसके, परम शरण मुझको वह देव ॥21॥

तृण, चौकी शिल, शैल शिखर नहीं, आत्मसमाधि के आसन।
संस्तर, पूजा, संघ सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन ॥22॥
इष्ट-वियोग, अनिष्ट-योग में, विश्व मनाता है मातम।
हेय सभी है विषय वासना, उपादेय निर्मल आतम ॥23॥
बाह्य जगत् कुछ भी नहीं मेरा, और न बाह्य जगत् का मैं।
यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति हेतु नित स्वस्थ रमें ॥24॥
अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृगतृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ ॥25॥
अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है ॥26॥
तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत-तिय-मित्रों से कैसे।
चर्म दूर होने पर तन से, रोम समूह रहे कैसे ॥27॥
महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़ देह संयोग।
मोक्ष महल का पथ है सीधा, जड़ चेतन का पूर्ण वियोग ॥28॥
जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प जालों को छोड़।
निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व आतमा, फिर-फिर लीन उसी में हो ॥29॥
स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते ॥30॥
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि ॥31॥
निर्मल, सत्य, शिवं, सुन्दर है, 'अमितगति' वह देव महान।
शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण ॥32॥